विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक

रामेश्वर मिश्र

खण्ड ४६
अंक १-४

चैत्र २०६२ - फाल्गुन २०६२
अप्रैल २००५ - मार्च २००६

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः— सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य-इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिका-भिरिति हि प्रच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। सम्पादक-मण्डल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमन्त्रित करता है, जिनकी रचनाएँ और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातन्त्र्य का मण्डल आदर करता है, परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

आलेख तथा समीक्षार्थ पुस्तकों से सम्बन्धित समस्त प्रकार के पत्र-व्यवहार करने का पता :

सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन — ७३१२३५

पश्चिम बंगाल

हलवासिया शोध ग्रन्थमाला

सम्पादक : रामेश्वर मिश्र

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट, कोलकाता ने ट्रस्ट के संस्थापक विश्वेश्वरलाल हलवासिया की जन्मशतवार्षिकी (सन् १९७०) के अवसर पर हिन्दी में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए विश्वभारती को आर्थिक अनुदान दिया था। इस अनुदान तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक सहायता से ग्रन्थमाला का कार्य आरम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं :

दिव्य-प्रबन्ध : तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त 'अल्वारों की वाणियाँ' (तमिल वेद) आठ भागों में समाप्त। भारतीय भक्तिधारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : पण्डित श्रीनिवास राघवन।

ग्रन्थांक-१	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-१** सन्त विष्णुचित्त (पेरियाल्वार) की रचनाएँ	मूल्य २५ रुपये
ग्रन्थांक-२	**वज्रयानी सिद्ध सरहपाद** - डॉ. द्विजराम यादव	अप्राप्य
ग्रन्थांक-३	**मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन** – डॉ. देवनाथ चतुर्वेदी	मूल्य ४० रुपये
ग्रन्थांक-४	**दिव्य-प्रबन्ध–भाग २,** सन्त आण्डाल (गोदा), कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, तथा मधुर कवि की रचनाएँ	मूल्य ३५ रुपये
ग्रन्थांक-५	**दिव्य-प्रबन्ध–भाग ३,** सन्त परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये
ग्रन्थांक-६	**दिव्य-प्रबन्ध–भाग ४,** सन्त परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये
ग्रन्थांक-७	**इतालवी व्याकरण–इतालवी भाषा का हिन्दी में प्रथम व्याकरण** -डॉ. एदमोन्दी आन्देरलीनी तथा डॉ. रामसिंह तोमर	मूल्य ७० रुपये
ग्रन्थांक-८	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग ५,** सन्त शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-९	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग ६,** सन्त शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-१०	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग ७,** सन्त कासार, सन्त भूत, सन्त वेताल तथा सन्त भक्तिसार की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-११	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग ८,** सन्त शठकोप, सन्त परकाल तथा श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-१२	**आधुनिक कविता में राष्ट्रीय चेतना** -डॉ. ऊ जो किम (दक्षिण कोरिया)	मूल्य १५० रुपये
ग्रन्थांक-१३	**माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम (भाग-१)**	मूल्य १२५ रुपये
ग्रन्थांक-१४	**माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम् (भाग-२)**	मूल्य १५० रुपये

विश्वभारती पत्रिका के प्रकाशित विशेषांक

१. **महात्मा गांधी जन्मशती विशेषांक**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : १४

२. **चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रयूज जन्मशती विशेषांक**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : १३

३. **मानस चतुश्शती अंक**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : १

४. **पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक (अनुपलब्ध)**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : ३

५. **रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : ७

६. **सूर-पंचशती विशेषांक**
मूल्य : ३० रु.

७. **रवीन्द्र-विशेषांक**
मूल्य : ३० रु.

८. **पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : १७

९. **मध्ययुग परिचयात्मक हलवासिया अंक**
मूल्य : ३० रु.
चित्रों की संख्या : १५

ग्रन्थमाला की पुस्तकें और पत्रिका मँगवाने के लिए तथा समस्त प्रकार के व्यावसायिक पत्राचार का पता:

सचिव, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन-७३१२३५
पश्चिम बंगाल

इस अंक के लेखक

अनूप कुमार	रीडर (हिन्दी), क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान (एनसीईआरटी) भुवनेश्वर (ओड़िसा)
खगेन्द्र ठाकुर	'क्षितिज', जनशक्ति कॉलोनी पथ संख्या २४, राजीव नगर पटना (बिहार)
देवकीनन्दन श्रीवास्तव	२३३३, हडसन लाइन, किंग्जवे कैम्प दिल्ली -११० ००९
पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु	साईंकृपा, ५८ लाल एवेन्यू डाकघर-रेयॉन एंड सिल्क मिल अमृतसर (पंजाब)
प्रवीण कुमार मिश्र	शोधछात्र, संस्कृत विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उ. प्र.)
प्रसन्न पाटकर	प्राध्यापक, ललित कला संकाय महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट (म.प्र.)
भवतोष दत्त	अवनपल्ली शान्तिनिकेतन (प. बंगाल)
रामदेव शुक्ल	'शीतल सुयश', राप्ती चौक आरोग्य मन्दिर, गोरखपुर (उ.प्र.)
संजय कुमार सिंह	१ई/९७, अनुग्रहपुरी कॉलोनी गया (बिहार)
सैयद एजाज़ हुसैन	रीडर, इतिहास विभाग विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प. बंगाल)

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड-४६, अंक १-४, चैत्र २०६२ - फाल्गुन २०६२, अप्रैल २००५ - मार्च २००६

विषय-सूची

नैवेद्य	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	७
प्रत्यक्षतावाद और मनुष्य का धर्म	भवतोष दत्त	१२
भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक सन्दर्भ	देवकीनन्दन श्रीवास्तव	२५
हमारी सांस्कृतिक विरासत	खगेन्द्र ठाकुर	३४
विसंरचना : दर्शन बनाम साहित्य	पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	४८
दर्पदीप्त करुणा की प्रभुता को चुनौती	रामदेव शुक्ल	५६
प्रसाद के नाटक : अभिनेयता और रंग-शिल्प	संजय कुमार सिंह	६८
मैला आँचल : यथार्थ और भाषा का अद्वैत	अनूप कुमार	९२
बिहारी सतसई के संस्कृत अनुवाद/टीकाएँ	प्रवीण कुमार मिश्र	१००
प्राचीन मूर्तिकला में नारी-प्रतिमाएँ	प्रसन्न पाटकर	११०
ग्रन्थ-चर्चा		११३
अपनी बात		११९

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड-४६, अंक १-४, चैत्र २०६२ - फाल्गुन २०६२, अप्रैल २००५ - मार्च २००६

नैवेद्य

- रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(१)

प्रतिदिन आमि हे जीवनस्वामी
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे।
करि जोड़कर, हे भुवनेश्वर,
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे।

तोमार अपार आकाशेर तले
विजने विरले हे–
नम्र हृदये नयनेर जले
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे।

तोमार विचित्र ए भवसंसारे
कर्मपारावारपारे हे
निखिल जगत्‌जनेर माझारे
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे

तोमार ए भवे मोर काज यबे
समापन हबे हे,
ओगो राजराज, एकाकी नीरवे
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे।

(२)

आमार ए घरे आपनार करे
गृहदीपखानि ज्वालो।
सब दुखशोक सार्थक होक
लभिया तोमारि आलो।

कोने कोने यत लुकानो आँधार
मरुक धन्य हये,
तोमारि पुण्य आलोके बसिया
प्रियजने बासि भालो।
आमार ए घरे आपनार करे
गृहदीपखानि ज्वालो।

परशमणिर प्रदीप तोमार
अचपल तार ज्योति,
सोना करे निक पलके आमार
सब कलङ्क कालो।
आमार ए घरे आपनार करे
गृहदीपखानि ज्वालो।

आमि यत दीप ज्वालि शुधू तार
ज्वाला आर शुधू कालि,
आमार घरेर दुयारे शियरे
तोमारि किरण ढालो।
आमार ए घरे आपनार करे
गृहदीपखानि ज्वालो।

(३)

निशिथशयने भेबे राखि मने,
ओगो अन्तरयामी,
प्रभाते प्रथम नयन मेलिया
तोमारे हेरिब आमि,
ओगो अन्तरयामी।

जागिया बसिया शुभ्र आलोके
तोमार चरणे नामिया पुलके
मने भेबे राखि दिनेर कर्म
तोमारे सँपिब स्वामी,
ओगो अन्तरयामी

दिनेर कर्म साधिते साधिते
क्षणे क्षणे भाबि मने

कर्म-अन्ते सन्ध्यावेलाय
बसिब तोमार सने।

सन्ध्यावेलाय भाबि बसे घरे
तोमार निशीथविरामसागरे
श्रान्त प्राणेर भावना वेदना
नीरवे याइबे नामि,
ओगो अन्तरयामी।

हिन्दी छाया

(१)

हे जीवनस्वामी, प्रतिदिन मैं तुम्हारे सम्मुख
खड़ा रहूँगा।
हे भुवनेश्वर, हाथ जोड़ कर मैं तुम्हारे ही सम्मुख खड़ा रहूँगा।
तुम्हारे अपार आकाश के नीचे, निर्जन एकान्त में,
नम्र हृदय से,
नयनों में अश्रुजल सहित
तुम्हारे ही सम्मुख खड़ा रहूँगा।

तुम्हारे इस विचित्र भव-संसार में,
कर्म-पारावार के तट पर,
निखिल जगत्‌जन के बीच
तुम्हारे ही सम्मुख खड़ा रहूँगा।

तुम्हारे इस संसार में जब मेरे समस्त कार्य
समाप्त हो जायेंगे,
तब हे राजराजेश्वर,
एकाकी नीरव हो कर
तुम्हारे ही सम्मुख खड़ा रहूँगा।

(२)

मेरे इस घर में अपने हाथों से
तुम गृहदीप जलाओ।

तुम्हारा आलोक प्राप्त कर
मेरे समस्त दुःख-शोक सार्थक हो जायें।
कोने-कोने में छिपा हुआ समस्त अन्धकार
मर कर धन्य हो जाये,
तुम्हारे पुण्य आलोक में बैठ कर
मैं प्रियजन से स्नेह करूँ।
मेरे इस घर में अपने हाथों से
तुम गृहदीप जलाओ।

स्पर्शमणि के तुम्हारे प्रदीप की
अचपल ज्योति है,
जो मेरे सारे कलुष-कलंक को
पल भर में स्वर्णिम बना दे।
मेरे घर में अपने हाथों से
तुम गृहदीप जलाओ।

मैं जितने भी दीप जलाता हूँ
उनमें केवल ज्वाला और कालिमा है,
मेरे गृहद्वार पर, सिरहाने
अपनी किरणें ढलकाओ।
मेरे इस घर में अपने हाथों से
तुम गृहदीप जलाओ।

(३)

हे अन्तर्यामी
रात्रिशयन के समय मन में सोच लेता हूँ
कि प्रभात होने पर नयन खुलते ही
पहले तुम्हारे दर्शन करूँगा।

हे अन्तर्यामी,
जगने पर शुभ्र आलोक में बैठ कर,
पुलकित हो तुम्हारे चरणों में नमन करता हूँ,
तथा मन में सोच लेता हूँ,
कि दिवस के समस्त कर्म तुम्हें ही समर्पित करूँगा।

दिन के कर्म सम्पन्न करते हुए
पल-पल मैं सोचता हूँ
कि सन्ध्यावेला कर्म समाप्त होने पर
तुम्हारे समीप बैठूँगा।

सन्ध्या के समय घर में बैठ कर सोचता हूँ
कि तुम्हारे निशीथरूपी विराम-सागर में
मेरे परिश्रान्त प्राणों की भावना-वेदना
चुपचाप उतर जायेगी,
हे अन्तर्यामी।

हिन्दी छाया : रा. मि.

प्रत्यक्षतावाद और मनुष्य का धर्म

– भवतोष दत्त

रवीन्द्रनाथ के यौवनकाल में हमारे देश में प्रत्यक्षतावाद (Positivism) की विशेष चर्चा थी। कोई आचरण और चिन्तन में प्रत्यक्षतावादी हुआ था तो कोई एकदम प्रत्यक्षतावादी न होने पर भी इस तत्त्व की आलोचना में मग्न हुआ था। बंगदेश में उस समय जो धर्मान्दोलन चल रहा था, समकालीन यूरोपीय दर्शन के रूप में प्रत्यक्षतावाद उस आन्दोलन को प्रभावित कर रहा था। रवीन्द्रनाथ ने अपने मानस-जागरण के इस समय में इसका स्पर्श नहीं पाया ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, जबकि हम रवीन्द्रमानस पर उपनिषद्चर्चा के प्रभाव को बहुत बड़ा कर के देखते हैं। किन्तु उस समय को ध्यान में रखने पर रवीन्द्रमानस पर प्रत्यक्षतावाद के प्रभाव की खोज करना असंगत नहीं प्रतीत होगा। यद्यपि राजनारायण बसु ने बंकिमचन्द्र को 'जघन्य कांटमतावलम्बी' कहा था तथा द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने बन्धु कृष्णकमल भट्टाचार्य के प्रामाणिकवाद की समालोचना की थी, तथापि यह बात कही जा सकती है कि ब्राह्मधर्मादर्श भी कांट-मत से सम्पूर्ण मुक्त नहीं था।

वस्तुतः यह सत्य है कि फ्रांसीसी दार्शनिक ऑगस्ट कांट (१७९७-१८५८) ने प्रत्यक्षतावाद नामक एक तत्त्व का निर्माण किया था, किन्तु प्रत्यक्षतावाद को केवल एक तत्त्व के रूप में नहीं देखा जा सकता। इसे एक दृष्टिकोण कहा जा सकता है जिसका प्रचलन उन्नीसवीं शती के फ्रांस और इंग्लैंड में विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ हुआ था। लौकिक जगत् के नीतिनियम का बुद्धि द्वारा निर्णय करना, मनुष्य के कल्याण में आत्मनियोग करना, यही प्रत्यक्षतावाद के सिद्धान्त के प्रधान लक्षण हैं। इसके लिए अलौकिक ईश्वरभावना की आवश्यकता नहीं। अज्ञात और अज्ञेय जगत्तत्त्व को समझने की वृथा चेष्टा करने से कोई लाभ नहीं। यह जगत् और यह मनुष्य ही चरम और परम सत्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कांट के इस विश्वास के निर्माण के मूल में यूरोपीय विज्ञान की प्रगति थी। सृष्टि के अन्तर्निहित सत्य के सन्धान में क्लान्त मनुष्य ने विशेषतः कांट के वाद, युक्ति के द्वारा जगत् के नीतिनियम को समझने की चेष्टा की है। भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, जीवविज्ञान आदि ज्ञान की विभिन्न दिशाओं में अलौकिक कारण का परिहार तथा कार्यकारण नियम प्रतिष्ठित होने चला था। कांट ने नियमतत्त्व पर अटल आस्था रखते हुए मनुष्य के समाज और नीतिधर्म को भी व्यावहारिक नियम में आबद्ध करने की चेष्टा की थी। गणित को उन्होंने सर्वोच्च स्थान दिया क्योंकि गणित स्वनिर्भर है। कांट की इस विज्ञानप्रवणता में चिन्ता को स्पष्ट, स्वच्छ और युक्तिनिर्भर करने की चेष्टा में उनकी समाजनीति का भी निर्माण हुआ। उपयोगितावाद (Utilitarianism) के साथ प्रत्यक्षतावाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है – इसी कारण जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी प्रत्यक्षतावाद को मूलतः स्वीकार कर लिया था। राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने कांट के तत्त्व की व्याख्या के प्रसंग

में लिखा है – "कांट कहते हैं कि विश्व मंडल की समस्त वस्तुएँ नियम के अधीन हैं। आकाश में जो धूमकेतु कभी-कभी दिखायी पड़ता है और मनुष्य के मन में जब जो इच्छाएँ जागृत होती हैं वे सभी नियम के अधीन हैं। धरती पर लोगों के पदाघात से जो रेणुराशि उड़ती रहती है, नभोमंडल में जो असंख्य ज्योतिष्कगण विराजमान हैं, मनुष्य समाज में जब जो घटनाएँ घटती हैं, वे सभी एक नियम के अधीन हैं।"

इस अलौकिकता-वर्जित नियम के अधीन जैसे वस्तुजगत् चलता है वैसे ही मनुष्य का मनोजगत् भी चलता है। मनुष्य का कर्तव्य अकर्तव्य, दाय-दायित्व भी उसी प्रकार एक नियम से चलता है। इस नियम के द्वारा ही हम जानते हैं कि धर्म अब अतिलौकिक ईश्वरभजन में नहीं है, नियमचालित अति प्रत्यक्ष इस मानवसमाज की सेवा में ही धर्म है। कांट ने ईश्वर की जगह मानव को बैठाया है। यह जगत् मानवजगत् है, मानवबुद्धि के बाहर और किसी वस्तु की कल्पना अर्थहीन है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कांट की आलोचना के प्रसंग में इस मानवदेवता की व्याख्या की है-

"Mr Comte belives in what is meant by the infinite nature of duty. But he refers the obligations of duty as well as sentiments of devotion to a concrete object at once ideal and real; the Human Race, conceived as a continuous whole, including the past, the present and the future. This great collective existence, the Grand Etre as he terms it. though the feelings it can excite are necessarily very different from those which direct themselves towards an ideally perfect being."

कांट की यह विराट सत्ता ईश्वर (Perfect Being) से अलग है, जैसे रवीन्द्रनाथ के 'मनुष्य का धर्म' का 'विश्वदेवता' ईश्वर से अलग है। यह सत्ता महामानव सत्ता है। कांट ने इस महामानव के प्रति दायित्वपालन का नाम दिया था मानवधर्म (Religion of Humanity)। बुद्धि के द्वारा इस प्रत्यक्ष जगत् के नियमरूप को जानना और प्रत्यक्ष इस मनुष्य की सेवा में स्वयं को उत्सर्ग करना ही मानवधर्म है। कांट ने जगत् के नियम के पीछे अदृश्य शक्ति को अस्वीकार किया है, उसी प्रकार मानवसेवा के लिए किसी ऐश्वरिक अनुप्रेरणा की जरूरत का बोध भी नहीं किया है। इसलिए निरीश्वरवादी कांट के सम्बन्ध में कहा गया है Comte offerd the world all of catholicism except christianity। प्रत्यक्षतावाद के नाम से न होने पर भी आधुनिक जीवन के क्षेत्र में मानवधर्म फैल गया है। मानवबुद्धि और मानवजीवन के आश्रय में रह कर ही आधुनिक मनुष्य ने जगत् की ओर देखा है – ईश्वर पर निर्भरता शिथिल होती जा रही है, अब वस्तुजगत् से बढ़ कर सत्य और कुछ भी नहीं है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है – "वैज्ञानिक अनुभव के द्वारा हम जिस जगत् को जानते हैं या किसी काल में जानने की सम्भावना रखते हैं वह भी मानवजगत् है। अर्थात् मनुष्य अपनी बुद्धि और युक्ति के खाँचे में, अपनी चिन्ता के आकार में अपने बोध के द्वारा उसे विशिष्टतापूर्वक अनुभव करता है। ऐसा

कोई चित्त कहीं रह भी सकता है जिसका उपलब्ध जगत् हमारे गाणितिक परिमाप से अतीत हो। हम जिसे आकाश कहते हैं उस आकाश में वह विराज नहीं करता। किन्तु जिस जगत् के गूढ़ तत्त्व को मानव अपनी अन्तर्निहित चिन्ताप्रणाली से मिला कर पाता है उसे अतिमानविक कैसे कहूँ। इसलिए किसी आधुनिक पण्डित ने कहा है, विश्वजगत् गाणितिक मन की सृष्टि है।"[२]

बंगाली समाज को कांट धर्म का परिचय इंग्लैड के माध्यम से मिला। इंग्लैंड में कांट के मुख्य अनुयायी थे रिचर्ड कंग्रीव (१८१८-१८९९), किन्तु इंग्लैंड में भी कांट के मत से परिचिति १८५० के बाद ही हुई। १८६० से १८७० के बीच इंग्लैंड में प्रत्यक्षतावाद की चर्चा चली। इसी समय के बीच सैमुअल लब, जेम्स गेडेस और हेनरी कॉटन – ये तीन प्रत्यक्षतावादी ब्रिटिश राजकर्मचारी के रूप में भारत आये । इस मत से उन्होंने ही इस देश के शिक्षित समाज का परिचय कराया। मिल की पुस्तक August Comte and Positivism (१८६५) से इस विषय में बड़ी सहायता मिली। बंगालियों में द्वारकानाथ मित्र तथा कृष्णकमल भट्टाचार्य ने मूल फ्रांसीसी में कांट के दर्शन का अध्ययन किया था। दूसरे लोग अंग्रेज प्रत्यक्षतावादियों द्वारा ही अनुप्राणित थे। प्रत्यक्षतावाद ने हमारे देश में धर्मविश्वास के रूप में किसी सम्प्रदाय या अनुगामी का निर्माण नहीं किया। उन्नीसवीं शती में कुछ विशेष लोग प्रत्यक्षतावादी के रूप में चिह्नित जरूर हुए थे किन्तु वैष्णव या ब्राह्म की तरह उन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं खड़ा किया। तालतला में नीलमणि कुमार के घर में प्रत्यक्षतावादी क्लब था। इसमें कोई अंग्रेज नहीं आता था, योगेशचन्द्र घोष, डब्लू, सी. बोनार्जि, छोटी अदालत के जज के. एस. चटर्जी, हाईकोर्ट के अनुवादक कृष्णनाथ मुखोपाध्याय, नीलकंठ मजुमदार और नीलमणि कुमार इसमें आते थे। योगेशचन्द्र ने राममोहन राय की अंग्रेजी रचनाओं का सम्पादन किया था, वे बंकिमचन्द्र से भी कांट दर्शन की चर्चा करते थे।[३] प्रत्यक्षतावाद के मतावलम्बी के रूप में बहुत लोग ही चिह्नित थे, किन्तु हमारी चिन्ता और आचरण में विभिन्न प्रकार से इस मत का प्रवेश हुआ था। बंकिमचन्द्र ने अपने परिकल्पित हिन्दू धर्म को कांट के मानवधर्म द्वारा अनुप्राणित किया था। भूदेव मुखोपाध्याय की रचनाओं का विश्लेषण करने पर कांट का प्रभाव दिखायी पड़ सकता है। कृष्णकमल ने कहा है, कवि बिहारीलाल की रचना में भी कांट की छाया है। राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने इस सम्बन्ध में बंगदर्शन में निबन्ध लिखे थे। प्रत्यक्षतावादी सर हेनरी कॉटन ने कहा है –

'Sooner or later, however the logic of events must bring about in India, as well as in Europe, the substitution of the conception of law for that will; and as a necessary consequence, the substitution of a human for a supernatural point of view in all social and religious organisations."[४]

कॉटन ने आशा की थी कि बंगालीजन यदि प्रत्यक्षतावादी न हो जायें तो भी प्रत्यक्षतावाद के प्रभाव से अलौकिकता के बदले नियम के प्रति अनुराग, अतीन्द्रियता के बदले कार्यकारण में विश्वास उनके मनोजगत् में स्थान बना लेगा। इसमें सन्देह नहीं कि बंकिम, भूदेव, रामेन्द्रसुन्दर आदि के युक्तिधर्म में यह आशा बहुत हद तक फलवती हुई है। तब के नव्यहिन्दू धर्म अथवा

ब्राह्मधर्म में ईश्वर का अविचल आसन होने पर भी मानवत्व-साधना पर जितना जोर दिया गया है वैसा पहले कभी नहीं हुआ। निर्वाणमुक्ति, संसारत्याग, लौकिक कार्य में अलौकिक कारण का आरोप, प्राकृतिक नियम से परे जगत् से अतिरिक्त किसी शक्ति पर विश्वास कम-से-कम सामाजिक चिन्ता के क्षेत्र में शिथिल हो गया। इतिहास को भी नये ढंग से देखने का अभ्यास हुआ। भारत में ब्रिटिश शासन भी ईश्वर की इच्छा का परिणाम नहीं है। अतः इस शासन को दूर करना हमारे वश में है — इस प्रकार की बात भी सोची जाने लगी। यह उदाहरण इसलिए दिया गया, क्योंकि इंग्लैड में प्रत्यक्षतावादी रिचर्ड कंग्रीव सुस्पष्ट रूप से इस अभिमत का पोषण करते थे। भारत के राष्ट्रीयतावाद को भी वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। ब्रिटिश शासन की दमन नीति को वे अन्याय ही समझते थे। अनुसन्धान करने पर उन्नीसवीं शती के राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल में प्रत्यक्षतावादी दृष्टिकोण के अस्तित्व को जाना जा सकता है। उसी प्रकार युटिलिटेरियन तथा प्रत्यक्षतावादी चिन्ताधारा में मातृभाषा की सहायता से शिक्षादान के लिए प्रबल समर्थन था।

१८८५ में 'भारती' पत्रिका में प्रत्यक्षतावाद के सम्बन्ध में कृष्णकमल भट्टाचार्य एवं द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर के कुछ निबन्ध प्रकाशित हुए। कृष्णकमल ने सुस्पष्ट भाषा और शैली में कांट के इस तत्त्व की व्याख्या की जिसमें प्रसंगवश उन्होंने जागतिक नियम के प्रति कांट के अटल विश्वास एवं परम्परित धर्मबोध की अप्रयोजनीयता की व्याख्या विशेष रूप से की। द्विजेन्द्रनाथ ने 'पॉजिटिभिज्म और आध्यात्ममिक धर्म' लिख कर उसका विरोध किया। दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर कहाँ है, इस सूत्र का निर्देश करने के लिए द्विजेन्द्रनाथ के आलेख से उद्धरण प्रस्तुत है, "मंगलनिष्ठ आत्मा कभी भी मंगलमय मूल सत्य के आकर्षण से विच्युत होकर विनष्ट नहीं हो सकती। आत्मा के अभ्यन्तर में अन्वेषण करने पर ही इस आनन्दजनक सत्य की उपलब्धि की जा सकती है – दूर नहीं जाना पड़ता। मूल सत्य के प्रति हमारी आत्मा का जो एक मर्मान्तिक आकर्षण है – यह एक ओर हमारे समस्त धर्मकार्य का मूल प्रवर्तक है तो दूसरी ओर हमारी आत्मा के अमरत्व का निदान है। कांट मूल सत्य को छोड़ कर; अविनाशी आत्मा की अनन्त उन्नति को छोड़ कर जनसमाज की अनन्त उन्नति के लिए प्रयत्नशील है। इसी का नाम जड़ को काट कर पत्तों पर पानी देना है।" [५]

कांट के मत के विषय में 'भारती' के इस वाद-विवाद के समय 'तत्त्वबोधिनी' [६] पत्रिका में भी कांट के मत की समालोचना करते हुए राजनारायण बसु के लेख प्रकाशित हुए हैं। वे प्रगाढ़ ईश्वरविश्वासी थे, किन्तु अपने धर्मतत्त्व में वे तर्क के क्षेत्र में समर्थन के रूप में ईश्वर की इच्छा का उल्लेख करने से विरत रहे।

उन्नीसवीं शती के आठवें-नवें दशक में जब कांट के मत के सम्बन्ध में नाना प्रकार की आलोचना हो रही थी तब रवीन्द्रनाथ की उम्र बीस-बाईस वर्ष की थी। 'भारती' एवं 'तत्त्वबोधिनी' दोनों ही प्रायः उनकी पारिवारिक पत्रिकाएँ थीं। इसी बीच भारती में रवीन्द्रनाथकृत 'यूरोपयात्री एक बंगीय युवक की पत्रधारा' का प्रकाशन हुआ। सम्पादक द्विजेन्द्रनाथ ने इस सम्बन्ध में मन्तव्य भी किया है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ 'भारती', 'तत्त्वबोधिनी' आदि पत्रिकाओं के नियमित पाठक थे।

'बंगदर्शन' के तो वे भक्त थे। 'नवजीवन' भी वे पढ़ते थे। उस काल के बंगालियों की चिन्ता की गति-प्रकृति को उन्होंने समझा था – यह कहना गलत न होगा।

रवीन्द्रनाथ ने कांट के मत को निःसंकोच ग्रहण नहीं किया। अर्थात् द्विजेन्द्रनाथ और राजनारायण की तरह ही वे भी केवल जगत् के जड़ प्राकृतिक नियम में ही विश्वास नहीं करते थे। मनुष्य के अध्यात्मजीवन और अध्यात्मशक्ति पर उनकी आस्था थी। जिस प्रेरणा से उन्होंने 'निर्झरेर स्वप्नभंग' (निर्झर का स्वप्नभंग १८८१) कविता की रचना की, उसके किसी प्राकृतिक कारण का निर्देश नहीं किया जा सकता। 'जीवनस्मृति' में उन्होंने इस कविता-रचना की प्रेरणा का जो वर्णन किया है उसे मिस्टिक कहना असंगत नहीं होगा और इसकी व्याख्या हम प्रत्यक्षतावादी चिन्तन में नहीं पा सकते। ईश्वरानुभूति, सृष्टि की प्रेरणा और सौन्दर्यबोध – इन सबका कोई नियम कांट ने निर्धारित नहीं किया। रवीन्द्रनाथ के तरुण चित्त के इस जागरण का भी कोई प्राकृतिक कारण निर्देश करना सम्भव नहीं। किन्तु प्राण जग कर जिस समग्र विश्वभुवन को ग्रहण करने के लिए व्याकुल हो उठता है, उस विश्वभुवन चेतना के प्रसार की बात कांट ने कही है। प्रत्यक्षतावाद की व्याख्या के प्रसंग में कृष्णकमल ने लिखा है – "कांट ने कहा है कि पूर्वोत्तर रूप परार्थपरता के द्वारा समाज का बन्धन दृढ़तर होता है। अन्य किसी प्रवृत्ति के वशवर्ती होने पर वह होने का उपाय नहीं। अतः नवसमाज के मंगल के लिए सहानुभूति को ही यथासम्भव प्रसारित करना चाहिए। कांट ने इसी बात को संक्षेप में कहा है कि प्रीति हमारी प्रवृत्ति है। प्रीति अर्थात् प्रेम। अपने पत्नी-पुत्र-परिवार के प्रति प्रेम, अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम, उससे भी यदि तुम्हारी प्रेम-पिपासा शान्त न हो तो समस्त मानवजाति से ही प्रेम करो, यही नहीं समस्त जीवजन्तु से प्रेम करने से भी कोई हानि नहीं।" [७]

'निर्झरेर स्वप्नभंग' कविता में कवि की हृदयगुफा से निकल कर जगत् के आत्मप्रसार की आनन्दमय अभिव्यक्ति की बात है। इसके साथ है प्रीति की बात – छलका दूँगा करुणाधारा, तोड़ूँगा मैं पाषाणकारा – सबको प्रेम से अभिषिक्त कर लेने की बात। इस प्रसंग में उन्होंने 'जीवनस्मृति' में मन की जिस प्रतिक्रिया का वर्णन किया है वह भी सर्वव्यापक प्रीति के आनन्द से पूर्ण है। १९३६ में 'मानवसत्य' की रचना के समय रवीन्द्रनाथ ने पुनः इस विस्मयकारी आत्मजागरण को याद किया है। इस बार दूसरी तरफ से विश्लेषण किया है। उन्होंने निर्झर के स्वप्नभंग को खंडित जीवन से महामानवलोक में मुक्ति कहा है। आबद्ध जीवन से कविहृदय की बृहत्जीवन की ओर यात्रा। निर्झर की यात्रा समुद्र की ओर है।

"उस प्रवाह की गति महान विराट समुद्र की ओर है। उसे ही अब कह रहा हूँ विराट पुरुष। वह जो महामानव है, उसी में जाकर नदी मिलेगी, किन्तु सब के बीच से होकर। यह जो पुकार हुई, सूर्य के आलोक से जग कर मन व्याकुल हो उठा, यह आह्वान कहाँ से है? इसका आकर्षण महासमुद्र की ओर है, समस्त मानव के भीतर से, संसार के भीतर से – भोग-त्याग कुछ को भी अस्वीकार कर के नहीं। मानवधर्म के संबंध में हमने जो व्याख्यान दिये हैं, संक्षेप में यही उसकी भूमिका है। अब इस महासमुद्र का मैंने नाम रखा है महामानव। समस्त मनुष्यों

के भूत, भविष्य और वर्तमान को समेटे हुए वे सर्वजन के हृदय में प्रतिष्ठित हैं। उनके साथ जा कर मिल जाने की यह पुकार है।"[८]

रवीन्द्रनाथ अपने जीवन के अन्तिम दशक में एक सुस्पष्ट दार्शनिक प्रत्यय की ओर अग्रसर हुए थे, जिसे उन्होंने 'मनुष्य का धर्म' कहा था। इस विषय पर उन्होंने ऑक्सफोर्ड में हिबर्ट व्याख्यान दिया था Religion of Man (१९३१) के नाम से। कलकत्ता विश्वविद्यालय में १९३३ में कमला व्याख्यान दिया 'मानुषेर धर्म' शीर्षक से। मानवसत्य शीर्षक निबन्ध में भी उन्होंने इसकी व्याख्या की है। वाल्टेयर विश्वविद्यालय में Man (१९३३) शीर्षक से जो व्याख्यान दिया उसका भी मूल विषय यही था। 'प्रवासी' (१९३१) में उन्होंने 'नरदेवता' शीर्षक निबन्ध भी लिखा। परवर्ती जीवन में उन्होंने विभिन्न कविताओं में मनुष्य के विश्वजनीन रूप की रचना की है। स्वभावतः यह प्रतीत हो सकता है कि परवर्ती काल में अर्जित भाव को रवीन्द्रनाथ ने प्रारम्भिक काल में रचित 'निर्झरेर स्वप्नभंग' पर आरोपित किया है।

हो सकता है इस अनुमान का कारण हो। तो भी मानवधर्म का भाव अपरिस्फुट रूप से उनके प्रारम्भिक जीवन से ही उनकी चिन्ताधारा के मूल में था – इस बात को भी सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परवर्ती कविताओं में मनुष्य और मानवमहिमा को उज्ज्वल होते देख कर ही ऐसा प्रतीत होता है। यह मनुष्य सर्वथा जैव मनुष्य नहीं है। रवीन्द्रनाथ के मतानुसार यह 'निखिल मानव की आत्मा' है। प्रचलित विश्वास के ईश्वर में नहीं है। कांट के मानवदेवता से इसका बहुत साम्य है। सम्भवतः कांट ने मानवसमाज के प्रति अपनी दृष्टि को जितना केन्द्रित रखा था, रवीन्द्रनाथ उसके सामाजिक रूप की ओर उतने सचेतन नहीं हुए। तथापि निखिल मानव की आत्मा व्यक्ति मनुष्य के प्रति कर्तव्यबुद्धि और कल्पना का आश्रयस्थल है। उन्होंने कहा है – "मनुष्य की यह जो कल्याण की मति है उसका सत्य कहाँ है? क्षुधा-तृष्णा की तरह प्रारम्भ से ही हमारे मन में उसका बोध यदि पूर्ण रहता तो उसकी साधना नहीं करनी पड़ती। मैं कहूँगा कि वह विश्वमानव में है। किन्तु समस्त मनुष्य का मन समष्टिभूत होकर विश्वमानव-मन का महादेश सृष्ट हुआ है, ऐसा नहीं कहूँगा। व्यक्तिमन विश्वमन में आश्रित है किन्तु व्यक्तिमन का योगफल विश्वमन नहीं है। यही यदि होता तो जो है वही सर्वथा होता, जो हो सकता है उसकी जगह नहीं रहती।"[९]

विश्वमानव-मन का अस्तित्व अतीन्द्रिय उपलब्धि का विषय नहीं। वह कोई अमानव या अतिमानव सत्य नहीं है, वह भी मानवबुद्धिजात सत्यधारणा है। यह सत्य वस्तु या मानवजगत् का सत्य है। वेदान्त जिस निर्विशेष सत्य की बात करता है यह सत्य उस प्रकार का नहीं है। इस सत्य धारणा के साथ कांट के प्रत्यक्षतावादी दृष्टिकोण का साम्य है। रवीन्द्रनाथ का महामानव मानो कांट के ह्यूमैनिटी का ही दूसरा रूप है। इस सादृश्य की बात एक बार रमाप्रसाद चन्द ने मानवधर्मेर मर्मकथा निबन्ध में कही थी। इस सादृश्य की बात और अधिक प्रतीत होती है आइन्सटाइन-रवीन्द्रनाथ के संलाप का अनुसरण करने पर।[१०] रवीन्द्रनाथ ने जब कहा – When our Universe is in harmony with man, the eternal We know it as truth, We Feel it as beauty.

तब आइन्सटाइन ने कहा – This is purely human conception of the Universe.

रवीन्द्रनाथ का मानवजगत् केवल दृश्यमान यथार्थ को लेकर नहीं है बल्कि जो होना चाहिए उससे सम्बन्धित है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि अब तक जो है केवल उसे ही लेकर मनुष्य रहता तो मनुष्य का धर्म अपरिपूर्ण होता। 'मूल बात है उसका यह विश्वास कि अप्रत्यक्ष निखिलता का सत्य प्रत्यक्ष अलगाव को परिपूर्ण किये है। समग्र की उपलब्धि करने की जो प्रेरणा उसके मन में है, वही उसकी भूमा का बोध है। समग्र के प्रति आकर्षण से उत्पन्न होता है कल्याण और सौन्दर्य। कांट के पास इसकी व्याख्या नहीं है, किन्तु विश्वमानव-समाज के कर्तव्य और प्रीति की बात प्रत्यक्षतावाद में है। रवीन्द्रनाथ ने जिसे भूमा के प्रति आकर्षण कहा है उसकी व्याख्या उन्होंने वैदान्तिक दृष्टि से न कर मानव-स्वभाव के रूप में की है। उनकी भूमा मानविक भूमा है। मिस्टिसिज्म में विश्वास न करने के कारण कांट ने ईश्वर को अस्वीकार किया, वस्तुजगत् और मानवबुद्धि में सम्पूर्ण आस्था न होने के कारण वैदान्तिक ब्रह्मवाद (सगुण ईश्वर में भी) रवीन्द्रनाथ का विश्वास नहीं। यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है आइन्सटाइन और रवीन्द्रनाथ में हुए वार्तालाप के द्वारा। 'मानुषेर धर्म' शीर्षक व्याख्यान में रवीन्द्रनाथ ने ब्रह्म या ईश्वर शब्द का कहीं उपयोग नहीं किया है। उन्होंने यह जरूर कहा है – "मेरी आत्मा, तुम्हारी आत्मा, उसकी आत्मा ऐसी कितनी आत्माएँ हैं। ये सब जिस एक आत्मा में सत्य हैं, उन्हें हमारे शास्त्र में परमात्मा कहा गया है। यह परमात्मा मानव-परमात्मा हैं, यही सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः हैं, यही सर्वदा जन-जन के हृदय में हैं।" [११]

मनुष्य के धर्म की व्याख्या के प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ने उपनिषद एवं वेदों से बहुत से वचन उद्धृत किये हैं, किन्तु उनकी व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से की है। १९३१ से रवीन्द्रनाथ मनुष्य के धर्म की व्याख्या करते रहे, लेकिन इसकी शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी। रवीन्द्रनाथ के जीवन का अनुभव वैविध्यपूर्ण था। नाना प्रकार के मनुष्य, देश, जाति और संस्कृति के सान्निध्य में वे आये थे। जिस प्रकार उन्होंने मनुष्य के कल्याण रूप को देखा था, विश्वमानव-समाज में सौन्दर्यसृष्टि की अपरिमेय आकांक्षा को देखा था, उसी प्रकार उन्होंने मनुष्य की संकीर्ण बुद्धि, जिसे वे अबुद्धि कहते थे, को देखा था तथा देखा था धर्म के नाम पर झगड़े को, एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय के संघर्ष को। मनुष्य के कीर्तिगौरव से जैसे वे गौरवान्वित थे उसी प्रकार मनुष्य के अन्ध आत्महनन से भी क्षुब्ध थे। इन सबको मिला कर उन्होंने मनुष्य का एक अर्थ खोजना चाहा था। उनकी यह तत्त्वान्वेषी स्पृहा यौवनकाल से ही थी। १९०८ से १९१५ के बीच दिये गये शान्तिनिकेतन के भाषणों और व्याख्यानों में उन्होंने जगत् और नीति के सम्बन्ध में अपनी निजी चिन्ता प्रकाशित की थी। कवि की इस दार्शनिक चिन्ता में ईश्वर, ब्रह्म आये थे। इस समय रवीन्द्रनाथ ब्रह्म-भावना से अनुप्राणित थे। दैनन्दिन काम-काज में, आचरण में, दिन-रात के आवर्तन में, ऋतु-वैचित्र्य, ग्रह-चन्द्र-तारों की नित्य परिक्रमा और अणु की तरंगलीला में उन्होंने नाना प्रकार से ब्रह्म की उपस्थिति का अनुभव किया। मनुष्य के सुख-दुःख, वेदना, आकांक्षा आदि के साथ ब्रह्म-भावना का योग दिखा कर उन्होंने हमारे दैनिक अस्तित्व के महत्त्व और

व्यंजना को समझा दिया है। हमारा जीवन व्यक्ति-साधना से होकर अखंड-साधना की ओर अभिमुख है – उसकी सुन्दर व्याख्या कर के उन्होंने हमारे जीवन को ब्रह्म को निवेदित पूजा-पुष्प की तरह पवित्र और शुभ्र कर दिया है – "क्रमशः अखंड विश्वनियम को चराचर में सर्वत्र एक के रूप में देखने की शिक्षा जब मनुष्य को मिली तब वह जान पाया कि जो असामान्य प्रतीत हुआ था। वह भी सामान्य नियम से च्युत नहीं है। तभी ब्रह्म के आविर्भाव को अखंड रूप से सर्वत्र व्याप्त करके देखने का अधिकार उसने प्राप्त किया। एवं उस विराट अविच्छिन्न ऐक्य की धारणा में उसने आनन्द, आश्रय प्राप्त किया। तभी मनुष्य का ज्ञान, प्रेम, कर्म मोहमुक्त हो कर प्रशस्त और प्रसन्न हो उठा। धर्म से, समाज से, राज्य से उसकी मूढ़ता और क्षुद्रता दूर होने लगी।"[१२]

रवीन्द्रनाथ ने यहाँ विश्वनियम की बात कही है, इस ओर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। यह जगत् नियमबद्ध है, क्षुद्रतम अणु से ले कर सौरजगत्, व्यक्ति-मनुष्य के मन से ले कर समाज-मानव के मन तक – सर्वत्र ही नियम है। उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने प्राकृतिक नियम को प्रतिष्ठित किया, वह नियम केवल जड़ जगत् ही नहीं, जीव जगत् में भी अबाध रूप से है। नियम के बिना कुछ भी नहीं रह सकता, विज्ञान ने जैसे जड़ एवं जीवजगत् को नियम में आबद्ध करना चाहा है उसी प्रकार उपयोगितावादियों और प्रत्यक्षतावादियों ने भी मनुष्य की समाजनीति और कर्तव्यनीति को नियमबद्ध करना चाहा है।

उस नियम से बाहर जाने की किसी सम्भावना से रवीन्द्रनाथ सहमत नहीं हैं। विश्वजगत् के इस महानियम का अनुसरण कर पाना ही ब्रह्म के आविर्भाव को अखंडरूप से सर्वत्र व्यक्त रूप में देखने का अधिकार प्राप्त करना है। हमारे इस प्रत्यक्ष जगत् के बाहर ईश्वर नहीं हैं। वे इस जगत् में ही हैं – केवल इतना कहना ही यथेष्ट नहीं है, कहना होगा कि यह जगत् ही ब्रह्म या ईश्वर है। जगत् के महानियम का ध्यान ही ईश्वर का ध्यान है। विवेकानन्द ने कहा था कि विश्व का मूल एक है – ऐसी चिन्ता के प्रति हमारा एक स्वाभाविक आकर्षण है। वस्तु को हम एक सामान्य नीति के अधीन पाना चाहते हैं। विवेकानन्द ने चाहे जिस अर्थ में कहा हो, रवीन्द्रनाथ ने उसी एक्र को इस जगत् के ही संयम और सामंजस्य के मध्य, विश्वनियम के छन्द में देखा है। नियम का उल्लंघन ही विकृति है, वह चाहे जड़जगत् हो या धर्मजगत्। उन्होंने कहा है – "मनुष्य नाना कारणों से अपने स्वभाव की रक्षा नहीं कर पाता, वह सन्तुलन खो देता है – यही उसके पाप का मूल है और धर्मनीति तो इसी कारण उसे संयम की ओर प्रवृत्त करती है।" सामंजस्य की बात से हर्बट स्पेंसर का स्मरण होना स्वाभाविक है। स्पेंसर के सामंजस्य-तत्त्व का आधार था विवर्तनवाद।

कांट ने ईश्वर को पूरी तरह छोड़ दिया है, उसकी जगह उन्होंने प्रत्यक्ष जगत् और मनुष्य को बैठाया है। रवीन्द्रनाथ ने इस जगत् में ही ईश्वर को देखा है। भक्त के दृष्टिकोण से रवीन्द्रनाथ के दृष्टिकोण का पार्थक्य यह है कि रवीन्द्रनाथ के पास ईश्वर की अलग सत्ता नहीं है, यह जगत् ही ईश्वर या ब्रह्म है। इस जगत् को हम बुद्धि के द्वारा नियम के मध्य पाते हैं। नियम के मध्य पाने का अर्थ है निर्वैयक्तिक रूप से पाना। इसीलिए इस ईश्वर-चिन्तन में किसी प्रकार की

साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं। कांट का प्रत्यक्षतावाद भी साम्प्रदायिकताशून्य है। रवीन्द्रनाथ जब 'मनुष्य का धर्म' लिख रहे थे तब किसी-किसी ने उन्हें निरीश्वरवादी के रूप में देखा था। वे जब शान्तिनिकेतन के भाषणों की रचना कर रहे थे, तब किसी ने उन्हें निरीश्वरवादी नहीं समझा था, सर्वत्र ही उन्होंने जगत् के मध्य ब्रह्मोपलब्धि की बात कही है। किसी भी स्थिति में प्रत्यक्ष जगत् को छोड़ कर अलौकिक जगत् अथवा अतीन्द्रिय अनुभूति की बात उन्होंने नहीं कही है वरन् जगत् को ही कहा है ब्रह्मस्वरूप। ब्रह्म को मानें या न मानें जगत् को तो मानना ही होगा। यही प्रत्यक्षतावाद का वक्तव्य है।

प्रत्यक्ष जगत् और प्रत्यक्ष मनुष्य, कांट के प्रत्यक्षतावाद का यही था मूल उपजीव्य। प्रत्यक्ष जगत् के विषय में ही था रवीन्द्रनाथ का काव्यजगत्। यह धरती, यह प्रकृति – इन्हीं के सौन्दर्य, सुख-दुःख, वेदना की अनुभूति ने अन्य समस्त चिन्ता-भावना को म्लान कर दिया है। 'छिन्नपत्र' में उन्होंने कहा है – "इतनी बड़ी पृथ्वी जो चुपचाप पड़ी हुई है, उसे मैं इतना प्यार करता हूँ कि उसके इन पेड़-पौधों, नदी-मैदान, कोलाहल-निस्तब्धता, प्रभात-सन्ध्या सबको समेट कर दोनों हाथों से जकड़ लेने की इच्छा होती है। मैं यह सोचता हूँ कि हमने पृथ्वी से उसका जो धन पाया है वैसा क्या किसी स्वर्ग से मिल पाता? स्वर्ग और क्या देता नहीं मा़लूम किन्तु इस तरह की कोमलता तथा दुर्बलता से पूर्ण, सकरुण आशंका से भरे इन अपरिपक्व मनुष्यों की तरह अपना ऐसा धन कहाँ से देता।"

यह कहने की जरूरत नहीं कि यही भावना रवीन्द्रनाथ के समस्त जीवन की साहित्य-प्रेरणा के मूल में है। कविगण जीवन से प्रेम करते हैं, उस प्रेम में शिल्प की सृष्टि है – यह तो सभी जानते हैं। रवीन्द्रनाथ की काव्य-रचना में जीवनप्रेम ईश्वरप्रेम का ही नामान्तर मात्र है, यह विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है। अलग से ईश्वरध्यान की जरूरत नहीं। इसीलिए 'नैवेद्य' में उन्होंने कहा है –

> रुद्ध कर इन्द्रिय का द्वार
> करूँ योगासन, यह नहीं मेरे लिए।
> जो भी आनन्द है दृश्य, गन्ध, गीत में
> तुम्हारा आनन्द रहेगा उसके बीच में।।

किन्तु प्रत्यक्षतावाद की एक विशिष्टता रवीन्द्रमानस के मूल में है जिसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। रवीन्द्रनाथ जैसी असाधारण सृष्टिकल्पना की क्षमता बहुत कम कवियों में देखी गयी है। कालिदास या अंग्रेजी रोमांटिक कवियों से उनकी तुलना की जा सकती है। किन्तु उनकी कल्पना ने कभी भी युक्तिधर्म का अतिक्रमण नहीं किया। वह कल्पना कभी भी अतिचारी या अलौकिक नहीं है।

वस्तुजगत् में, मानवजीवन में, विश्वप्रकृति में जो अजस्र प्राणशक्ति नित्यनवीन रूप में प्रकाशमान है, विज्ञान के तत्त्व में जिसकी प्रतिष्ठा है, रवीन्द्रनाथ की सृष्टिकल्पना उसे मूल

सूत्ररूप में ग्रहण करके ही अपने रूप और रूपक में सार्थक हुई है। जगत् का वस्तुजगत् सत्य है एवं हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बहुवर्ण तथा बहुवैचित्र्य में रूपायित हुआ है।

'निर्झरेर स्वप्नभंग' की रचना के ही रवीन्द्रनाथ ने विश्व की नित्यचलिष्णुता के तत्त्व का अनुभव किया था। तब से ही चलने की यह बात रवीन्द्रनाथ ने अनेक प्रकार से कही है। गति का सत्य कवि की समग्र रचनाओं की पृष्ठभूमि में है। 'निर्झरेर स्वप्नभंग' के बाद 'एबार फ़िराओ मोरे' (अब लौटा लो मुझे) में महाजीवन की तरंगध्वनि सुनायी पड़ती है। पद्मा (नदी) के प्रतीक में वह गति आयी है, छिन्नपत्र के पत्रों में भी उसका सुर है। 'येते नाहि दिब' (जाने नहीं दूँगा) कविता में बज रहा है तृण से नक्षत्रलोक तक चिरन्तन रूप से चलने और पीछे छोड़ आने का आर्त्त हाहाकार। बलाका में कवि विश्वजगत् और अपने अन्तर में चिरन्तन गति की आनन्दध्वनि को सुन पाते हैं। गति का यह सत्य कवि की अलौकिक कल्पना नहीं है। यह एक वस्तुगत सत्य है। इस गति से नये-नये रूप की सृष्टि होती है, जो जीर्ण हैं वे झर जाते हैं, प्राणलीला अबाध चलती है। जगत् के इस रूप की व्याख्या विज्ञान ने ही की है। वस्तुतः उन्नीसवीं शती में गतिभावना का ही युग था। भौतिकविज्ञान से जीवविज्ञान तक के क्षेत्र में परिवर्तन और विवर्तन की भावना ने भावुकचित्त को प्रभावित किया था। विश्वजगत् की गतिधारा वस्तुतः उस काल के प्राकृतिक नियम का ही एक रूप है। कांट ने सभ्यता के विकास में इस नियम को दिखाया था। हर्बर्ट स्पेंसर ऐसा समझते थे कि विर्वतनवाद को जड़ और जीवजगत् में, नीहारिका-पुंज से मानवसृष्टि तक, बर्बर युग से शेक्सपीयर तक समान रूप से प्रयोग करना सम्भव है।[१३] उन्नीसवीं शती में डारविन ने जीवजगत् में विवर्तन के जिस विज्ञान की रचना की थी, उसने मनुष्य के चिन्ताजगत् को बहुत दूर तक प्रभावित किया था। उनके सभी वक्तव्य निःसंदेह रूप से सत्य प्रमाणित नहीं होने पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि गतिधारणा ने हमारी चिन्ता में युगान्तर प्रस्तुत किया। उन्होंने प्राण की अबाधित धारा को दिखाया है। उसमें व्यक्ति की अवलुप्ति होने पर भी समष्टि का स्थान चिरजीवी के रूप में रहता है। उन्नीसवीं शती की विवर्तभावना से अनुप्राणित होकर ही टेनिसन ने शोककाव्य की रचना की थी –

So Careful of the type she seems
So Careful of the Single life.

रवीन्द्रनाथ की कविता में भी हम सुन पाते हैं महाजीवन की बात, नये-नये रूप के भीतर से अग्रसर होने की बात। जन्मान्तरवाद विज्ञान में स्वीकृत नहीं, किन्तु प्राण का रूपान्तर वृहत्तर अस्तित्व की पट्टभूमिका में स्वीकृत है। रवीन्द्रनाथ ने वैज्ञानिक नियमनीति को मान कर ही प्राणतत्त्व को कवि-कल्पना का वाहन किया था। 'पृथिवी' शीर्षक कविता को पढ़ने पर समझा जा सकता है कि जीवन के अन्तिम समय में जागतिक विवर्तन की भावना कवि के अन्तर को कितना प्रभावित किये हुए थी।

जिस नियम से नीहारिका-पुंज से लेकर मानवजीवन तक विवर्तित हुआ है उसी नियम से परिचालित विश्व के प्रति अनुराग एवं उसके क्षणिक सौन्दर्य को कल्पना से उद्भासित कर देना

ही कविजीवन की मर्मकथा है। उन्नीसवीं शती की विज्ञान-चेतना से परिचित होकर ही उनके कविजीवन का उन्मेष हुआ। जिस समय 'निर्झरेर स्वप्नभंग' की रचना हुई थी उस समय की बात याद करते हुए उन्होंने लिखा है – "सदर स्ट्रीट के निवास के समय की एक और बात की याद आती है। इस समय विज्ञान पढ़ने में मेरी विशेष रुचि हुई थी। उन दिनों हक्सले की रचना से जीवतत्त्व और लॉकइयर, निउकोम्ब आदि के ग्रन्थों से ज्योतिर्विद्या का ध्यानपूर्वक पाठ किया था।"[१४]

इस विज्ञान-चेतना ने रवीन्द्रनाथ के मन में जागतिक नीतिनियम के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया। इसीलिए अपनी कल्पना में वे कभी अतिचारी नहीं हुए। यह प्रत्यक्ष भुवन कवि की चेतना में मिल गया है। मर्त्यप्रेमी कवि ने जगत् से प्रेम किया है उसके शुभ-अशुभ को मिला कर, प्रकाश और अन्धकार, जन्म और मृत्यु, उत्थान और पतन के साथ उसके समग्र रूप को –

मैंने प्यार किया है इस जगत् से
जीवन के हर फेरे में
बाँध लिया है मैंने इसे।
प्रभात और सन्ध्या का
प्रकाश और अँधेरा
डूब गया है मेरी चेतना में,
मेरा जीवन और मेरा भुवन
दोनों मिल कर अब हो गये हैं एक।
मैंने प्यार किया है इस जगत् के प्रकाश से
इसलिए प्यार करता हूँ इस जीवन को ।

'निर्झरेर स्वप्नभंग' की रचना के समय से प्रत्यक्ष जगत् के नीति-नियम के प्रति कविचित्त का अनुराग दृढ़ हो गया। उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ की अपनी स्वीकृति के अनुरूप मानवधर्म के प्रति आकर्षण की सूचना भी हुई तब से ही। 'निर्झर के स्वप्नभंग' के महासमुद्र को ही उन्होंने कहा है महामानवलोक।

कांट का चरम लक्ष्य जैसे मानवता है उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ का भी चरम लक्ष्य महामानव है। अपने जीवन के प्रारम्भ से ही मानवलोक के सान्निध्य में आने की आकांक्षा होने पर भी वह मानव-कल्पना तब परिपूर्ण नहीं हो सकी थी। उनकी इस धारणा को पूर्णता तब मिली जब विश्व की नाना जाति और संस्कृति से उनका परिचय हुआ। महामानव के सागरतीर पर जिस नरदेवता की वन्दना उन्होंने की है – तब तक भी वह नरदेवता अधिकांशतः नाममात्र का है। 'गीतांजलि' में नरदेवता नारायण को उन्होंने साधारण श्रमजीवी और कर्मजीवी मनुष्य के मध्य देखा है। उसके बाद महामानव की धारणा और भी सत्य तथा व्यापक हुई। भारतवर्ष में जिस ऐक्यसाधना का स्वप्न उन्होंने देखा था, उनके विदेश-भ्रमण के समय से वह ऐक्यसाधना और भी अर्थपूर्ण हो उठी। वहाँ उन्होंने राष्ट्रतन्त्र को देखा। राष्ट्रतंत्र उन देशों में सर्वमानविक एकता के पथ में बाधास्वरूप था।

इसलिए उन्होंने कहा - "Man, the person, must protest for his very life against the heaping up of things where there should be the heart, and systems and politics where there should flow living human relationship."[१५]

राष्ट्रीयता के कारण जो अलगाव है वह मनुष्य के मिलन में बाधास्वरूप है। महामानव के जिस सत्य का अनुभव कवि करना चाहते हैं, यूरोप में वह सत्य खंडित होता है राष्ट्रीयता की बाधा के द्वारा। इसी प्रकार भारतवर्ष में महामानव का यह सत्य खंडित होता है धर्म और सम्प्रदाय के भेद की बाधा से। विदेशों में रवीन्द्रनाथ ने राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में जो व्याख्यान दिये थे, उनका मूल मर्म था ह्यूमैनिटी या मानवतन्त्र।

भारतवर्ष के मध्ययुग के सन्तसाधक और बाउलों की नरदेवता की पूजा ने रवीन्द्रनाथ के इस महामानवतत्त्व को समृद्ध किया है। ये सन्तसाधक भी बाह्य अतीन्द्रिय ईश्वर को नहीं मानते। मनुष्य के भीतर जो देवता उदारदृष्टि से अभेद रूप में प्रतीयमान होते हैं उन्हीं की आराधना ये करते हैं। रवीन्द्रनाथ इन सन्तसाधकों के प्रति आकृष्ट हुए थे, उसका मुख्य कारण इन साधकों के गीत एवं वाणियों में विद्यमान विभेदहीन मनुष्य की बात थी। 'The Religion of Man' के भाषण में रवीन्द्रनाथ ने दिखाना चाहा था कि मनुष्य का धर्म ही चिरन्तन धर्म था । ये साधक बहुत दिनों से इस धर्म की बात कहते आये हैं। उन्होंने कहा है कि ये साधक -

Bore in their life the testimony of their intimacy with the person who is in all persons, of men the formless in the individual forms of men. Rajjab, a poet-saint of mediaeval India, says of Man :

God-man (nara-narayana) is they definition, it is not a delusion but truth.

इसके बाद रवींद्रनाथ कहते हैं-

All these are proofs of a direct perception of humanity as an objective truth that rouses a profound feeling of longing and love.[१६]

यह कहना उचित होगा कि रवीन्द्रनाथ ने इन साधकों की वाणी को अपने मानवतन्त्र की अनुकूलता की दृष्टि से ग्रहण किया। बाउलों के 'मनेर मानुष' (मन का मनुष्य) और सहजिया साधकों के 'मानुष सत्य' को रवीन्द्रनाथ के मानववाद से सम्पूर्ण एक कर के नहीं देखा जा सकता। उनका अपना एक रहस्यवादी पथ था जो कांट या रवीन्द्रनाथ में नहीं है। कांट ने मिस्टिसिज्म का सर्वथा वर्जन कर मनुष्य की एक विश्व-सामाजिक मूर्ति का गठन किया था, आत्मकेन्द्रिक मिस्टिक साधना के द्वारा ह्यूमैनिटी अनुध्येय नहीं है। रवीन्द्रनाथ का मानव मानवता के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा गठित होने पर भी बहुत कुछ भावमय है, बाउलों के 'मनेर मानुष' की तरह। बाउलों का मनेर मानुष वस्तुतः ईश्वर का ही नामान्तर है। वे इस साधना के द्वारा मुक्ति

की खोज करते हैं। कांट या रवीन्द्रनाथ के मानवधर्म में उस अर्थ में ईश्वर नहीं हैं, वहाँ ह्यूमैनिटी और मानवदेवता हैं।

अनुवाद : शकुन्तला मिश्र

सन्दर्भ :

१. राजकृष्ण मुखोपाध्याय, कांट दर्शन, बंगदर्शन, पौष, १२८१

२. मानुषेर धर्म (१९३३), अध्याय २, पृष्ठ ४६-४७

३. प्रियरंजन सेन, 'बांग्लाय ध्रुववाद', कृष्णनगर कॉलेज शतवर्षोत्सव स्मारकग्रन्थ, १९४४, पृष्ठ ६ तथा विपिन बिहारी गुप्त, पुरातन प्रसंग, विद्याभारती संस्करण १३६३, पृष्ठ १०१

४. प्रियरंजन सेन के पूर्वोक्त प्रबन्ध में उद्धृत

५. भारती, कार्तिक १२९२, पृष्ठ ३०६

६. तत्त्वबोधिनी पत्रिका १८०३ शक, कार्तिक 'ईश्वर विश्वास ओ धर्मनीति' तथा १८०६ भाद्र 'नूतन धर्ममत'। दूसरे में बंकिम के धर्ममत की समालोचना

७. पॉजिटिभिज्म, भारती, कार्तिक १२९२, पृष्ठ २९७

८. मानवसत्य, द्रष्टव्य ; 'मानुषेर धर्म' का परिशिष्ट

९. मानुषेर धर्म, १९३३, अध्याय २, पृष्ठ ६९

१०. The Religion of Man, appendix (1932)

११. मानुषेर धर्म, १९३३, पृष्ठ ४८

१२. 'स्वभावलाभ', शान्तिनिकेतन, रवीन्द्ररचनावली (विश्वभारती) १४, पृष्ठ ४०६

१३. He was fired with the thought of a series of works in which he would show the evolution of matter and mind from nebula to man, and from savage to shakespeare. – Will Durant, The Story of Philosophy, Chap VIII. The Development of spencer.

१४. जीवनस्मृति, १३६३, पृष्ठ २४६

१५. Nationalism in the West, Nationalism, पृष्ठ ४३

१६. The Religion of Man, Chapter VII.

भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक सन्दर्भ

– देवकीनन्दन श्रीवास्तव

भारतीय दर्शन का बीज वेद, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों में विद्यमान है और उसका मूल सूत्रवाक्य है ऋग्वेद का 'एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' एक ही परम सत् को ज्ञानीजन बहुत प्रकार से व्यक्त करते हैं। वस्तुतः परम सत्य तो एक ही है परन्तु ऋषियों, मुनियों तथा विचारकों के दृष्टि-भेद से देश, काल और व्यक्ति की अभिरुचि एवं पात्रता के अनुसार उसे अनेक रूपों में, अनेक माध्यमों से, अनेक मानसिक स्तरों पर विशिष्ट शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। एक ही सत्य अनेक दृष्टिकोणों से देखने पर विविधतथ्यात्मक प्रतीत होता है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' कह कर विचार-वैचित्र्य के इसी वैशिष्ट्य का निर्देश किया गया है।

मूलतः भारतीय दर्शन का स्वरूप अध्यात्मपरक रहा है जिसके द्वारा सत्य के अन्तरंग व्यापक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषियों का दर्शन परम सत्य के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के कारण दिव्य मानस की मेधा और ऋतम्भरा बुद्धि की प्रज्ञा का द्योतक माना गया है जिसके अन्तर्गत आध्यात्मिक निःश्रेयस तथा ऐहिक अभ्युदय के अनेक पक्षों तथा परिवेशों का कहीं वर्णनात्मक रूप में और कहीं प्रतीकात्मक शब्दावली में निरूपण हुआ है। इसी दृष्टि से वेदों को अपौरुषेय तथा परमात्मा का निवास कहा गया है। भारतीय दर्शन में समस्त ज्ञान-विज्ञान-प्रज्ञान का आदि सनातन स्रोत वेद ही माना गया है।

भारतीय दर्शन में सत्य का स्वरूप सनातन है पर ऐतिहासिक सन्दर्भ में उसका रूप बहुमुखी तथा बहुआयामी रहा है। उसकी व्यापक परिधि में अनेक आस्तिक और अनास्तिक विचारधाराओं का निरन्तर समावेश होता रहा है।

पाश्चात्य दर्शन में सत्य का अनुसन्धान प्रायः बौद्धिक स्तर पर होता रहा है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों से लेकर आधुनिक यूरोपीय विचारकों तक की अवधारणा तत्त्व-दर्शन में बुद्धिपरक तथा तर्कपरक रही है। यत्र-तत्र प्रमाण-पुष्टि हेतु कल्पना और अन्तःप्रेरणा का आधार अवश्य ग्रहण किया गया है पर सत्य की आत्मा के अन्तरंग साक्षात्कार की प्रवृत्ति केवल कुछ रहस्यदर्शी सन्तों की व्यक्तिपरक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तक ही सीमित रही है। Know thyself – अपने को जानने का सूत्र भी बौद्धिक धारणाओं और मानसिक परिकल्पनाओं के माध्यम से ही खोजा जाता था। इस दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन का मूल स्वर बुद्धिवादी रहा है, बुद्धि से परे उच्चस्तरीय प्रज्ञा की भूमिका पर तत्त्वदर्शन की सम्भावनाओं की विचारणा पाश्चात्य दार्शनिकों की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं थी। आत्मा के स्थान पर वहाँ व्यक्ति, व्यक्तित्व, अहं

और अहं के चारों ओर विस्तृत जगत् का, बाह्य प्रकृति के व्यापारों तथा उनकी विविध क्रियाओं- प्रतिक्रियाओं का मानवीय सन्दर्भों में निरीक्षण-अन्वेषण की प्रवृत्ति ही प्रधान थी। इसीलिए पाश्चात्य दर्शन आज तक स्थूल पार्थिव जगत् तथा सूक्ष्म मानसिक एवं बौद्धिक गतिविधियों के विवेचन-विश्लेषण के अतिरिक्त अधिक ऊँची और गहरी जीवन-गुत्थियों को नहीं सुलझा सका। समस्याएँ अधिक उभरी हैं, समाधान कम हुए हैं। पाश्चात्य दर्शन ने मानव-मन की दुर्बलताओं, विषमताओं तथा जटिलताओं का विश्लेषण अधिक किया है, उसकी ऐषणाओं, महत्वाकांक्षाओं, अधिकार-वासनाओं तथा उत्तेजनाओं का मनोवैज्ञानिक निरूपण करने में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है। जीवन के बहिर्द्वन्द्व तथा अन्तर्द्वन्द्व की विडम्बनाओं का विशद आलोड़न-विलोड़न किया है और इस प्रकार वहाँ पर दर्शन आन्तरिक शान्ति और मानसिक विश्राम देने के स्थान में इच्छाओं की पूर्ति हेतु मनोवृत्तियों को विविध दिशाओं से सक्रिय करता रहा है। सारे जगत् को कर्त्तव्यों की तत्परता की ओर अग्रसर करने के नाम पर अधिकारों के लिए पारस्परिक संघर्ष के कोलाहल को अधिक मुखर किया है, विज्ञान के नवीन आविष्कारों ने व्यक्तियों और राष्ट्रों की इस अधिकार-लिप्सा की होड़ में युद्ध की विभीषिकाओं को विशेष गतिशीलता प्रदान की है जिसने मानव और विश्व के वर्तमान एवं भविष्य को आशंकाओं और विघटनकारी सम्भावनाओं से ग्रस्त कर दिया है। शान्ति के नाम पर युद्ध, रक्षा के नाम पर आक्रमण की प्रवृत्ति प्रबल होती गयी है। अर्थलोलुपता और भोगलिप्सा के अन्तर्गत आवेश में एक ओर यान्त्रिक जीवन की कृत्रिमता बढ़ी है तो दूसरी ओर विलासिता और अकर्मण्यता की प्रवृत्ति भी प्रखर होती गयी है। मानवीय चरित्र के उदात्त आदर्शों की चर्चा केवल नैतिक और धार्मिक संस्थाओं के औपचारिक प्रचार-प्रसार तक ही सीमित रह गयी। यथार्थ के नाम पर सारे आदर्शों की अवहेलना, क्रान्ति के नाम पर सारे संस्कारों की उपेक्षा की प्रवृत्ति जनव्यापिनी होती गयी। अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति युवा मनोवृत्ति की प्रबुद्धता की परिचायिका बन गयी और सभी आचार-विचार-संहिता उपदेशकों का कोरा आडम्बर मात्र बन कर रह गयी।

भारतीय दर्शन के इतिहास में भी यह वैचारिक उथल-पुथल अनेक बार अनेक रूपों में सक्रिय हुई और उसने परम्परागत धारणाओं एवं मान्यताओं के प्रति विद्रोह और आक्रोश की अभिव्यक्ति की, परन्तु भारतीय चिन्तकों और महापुरुषों के व्यक्तित्व और कृतित्व ने समय-समय पर नवीन विचारधाराओं को नियन्त्रित किया। प्राचीन परम्परागत आदर्शों की उपेक्षा किये बिना आधुनिक परिस्थिति के अनुकूल वे जनमानस के विकास को समुचित दिशा प्रदान करने में दूरदर्शिता और संरचनात्मक तत्परता से अग्रसर रहे। यही कारण है कि जहाँ यूरोप में करुणा के अवतार ईसा के अनुयायियों में धर्मान्धता और युद्धोन्माद की प्रवृत्ति बढ़ती गयी वहाँ भारत में भगवान बुद्ध की अहिंसा और विश्वमैत्री के आदर्शों का अनुसरण होता रहा, यद्यपि अपने को बौद्ध धर्म के अनुयायी मानने वाले चीन-जापान जैसे एशियाई देशों में पंचशील जैसे ऊँचे-ऊँचे आदर्श सैद्धान्तिक रूप में ही मान्य रहे, व्यावहारिक क्षेत्र में उनका परिपालन शिथिल होता गया। दर्शन का कार्य समाज को श्रेयस्कर आचार-विचार की ओर प्रेरित करना तथा भविष्य निर्माण के प्रति मनीषा को निरन्तर प्रबुद्ध और तत्पर करना है। इस दृष्टि से इतिहास को समुचित

दिशा में अग्रसर करना मुख्यतः दर्शन का ही दायित्व है जो समाज के उच्चतर मेधावी विचारकों के माध्यम से सम्भव होता है।

भारतीय दर्शन का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि वैदिक ऋषियों के आध्यात्मिक लक्ष्य की उपेक्षा करने वाले कर्मकाण्डी, यज्ञकर्त्ताओं की हिंसापरक अनुष्ठान-विधियों की प्रतिक्रिया में जैन और बौद्ध दर्शन का विकास हुआ। भगवान बुद्ध ने स्वयं ईश्वर, वेद और आत्मा के नाम पर लोकविरोधी गतिविधियों में निरत वेदवादी पंडितों की भर्त्सना करते हुए ईश्वर, वेद और आत्मा की चर्चा के प्रति उदासीन रहते हुए 'अहिंसा परमो धर्मः' के सनातन भारतीय आदर्श को नव प्रेरणा प्रदान की और सद्धर्म की संस्थापना द्वारा 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'धर्मं शरणं गच्छामि' तथा 'सघं शरणं गच्छामि' के उद्घोष द्वारा लोक के अभ्युदय और निःश्रेयस के धारक 'धर्म' के सनातन स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा की। इसीलिए बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन मानते हुए भी बुद्ध को विष्णु के दशावतारों में गौरवपूर्ण स्थान दिया गया। भोगलिप्सु समाज में अपरिग्रह आदि सप्तमहाव्रत का प्रसार करने वाले जैन धर्म के आदिपुरुष ऋषभदेव को श्रीमद्भागवत में एक परमहंस ऋषि के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

चार्वाक का नास्तिक लोकायत दर्शन भोगवादी दर्शन था। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' – 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमःकुतः' का तर्क देते हुए जनता को भौतिक वासनाओं में लिप्त करने का प्रयास करने वाले इस दर्शन को वार्हस्पत्य दर्शन का नाम देते हुए भी उसे लोक में आचार विरोधी समझ कर मान्य नहीं किया गया। भारतीय दर्शन की यह सन्तुलित दृष्टि ऐतिहासिक महत्त्व रखती है।

लोकायत दर्शन देहात्मवादी है। आचार्य वृहस्पति इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। इस दर्शन में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के सम्मिश्रण से चेतना की उत्पत्ति मानी जाती है, आकाश को तत्त्व नहीं माना जाता। इस दर्शन के अनुसार चेतना शरीर से भिन्न तत्त्व नहीं, अतः शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। ईश्वर की इस दर्शन में कोई सत्ता नहीं। अर्थ और काम की पूर्ति ही जीवन का लक्ष्य माना जाता था। आज के जितने भी कोरे भौतिकवादी दर्शन हैं उनका बीज लोकायत दर्शन में विद्यमान है। उच्चस्तरीय ऋषि-मुनियों द्वारा समादृत न होते हुए भी भारतीय दर्शन में इस प्रत्यक्ष लोकवादी दर्शन की मान्यता भारतीय समाज और इतिहास के उदार और व्यापक दृष्टिकोण की परिचायिका है। भोगवादी समाज का भी अपना जीवन-दर्शन होता है और सभी देशों, कालों में इस देहात्मवादी वृत्ति के व्यक्तियों का अस्तित्व मिलता है। सारी आसुरी संस्कृति इसी भोगवादी जीवनदृष्टि का अनुसरण करती रही है और परोक्ष रूप में दैवी संस्कृति की शक्तियों को बार-बार प्रबुद्ध होने की प्रेरणा देती रही है। यही इसकी ऐतिहासिक और सामाजिक उपयोगिता मानी जा सकती है।

बौद्ध दर्शन, जिसे मध्यम दर्शन भी कहा गया है, के अनुसार विश्व के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। कोई रूप स्थिर नहीं है। सभी कुछ अन्ततः शून्य है। इस शून्यवादी बौद्ध दर्शन में किसी पदार्थ को सत, असत कहना भी शक्य नहीं। मात्र बौद्धिक ज्ञान ही सत्य है। बौद्ध दर्शन

दुःखवादी दर्शन है जो संसार को दुखभरा मानता है, इस दुख से मुक्ति, सारे लौकिक भोगों से विरक्ति तथा शून्य में विलीन होना ही मुक्ति है, निर्वाण है, सारे बाह्य पदार्थ शून्य हैं, ज्ञानदशा में 'बोधि' प्राप्ति के द्वारा विज्ञान की सिद्धि होती है। इस दृष्टि से बौद्ध दर्शन को विज्ञानवादी दर्शन भी कहा जाता है। सारा भावजगत्, पदार्थों का बुद्धिस्थित रूप और बाह्यस्थित रूप दोनों ही सत्य है। सर्वस्मितिवाद में बाह्य एवं अन्तर पदार्थ दोनों की ही सत्ता है। आत्मा की सत्ता इस दर्शन में मान्य नहीं, अतः बौद्ध दर्शन अनात्मवादी दर्शन कहा जाता है। इतिहास के सन्दर्भ में जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, बौद्ध दर्शन में ईश्वर की और आत्मा की चर्चा उपेक्षित है, इसी रूप में यह अनीश्वरवादी और अनात्मवादी है। यह तत्कालीन पंडितों के कर्मकांडों, कट्टरपन्थी वेदवादियों की विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में लोकचेतना में अहिंसा और विश्वमैत्री के भाव को उद्‌बुद्ध करने का प्रयास था। अन्यथा बोधिसत्व के रूप में अनेक योनियों में जन्म लेकर विकास की ओर अग्रसर होनेवाले प्राणियों की जातककथाओं का महत्त्व जन्म-जन्म में शरीर बदलने वाले आत्मा के अस्तित्व के बिना कहाँ तक सार्थक होता। बुद्ध स्वयं कहते थे कि वे पूर्व जन्म में वे 'राम' थे। इस स्पष्टीकरण का अभिप्राय यह है कि भारतीय दर्शन समय-समय पर ऐतिहासिक सन्दर्भ के अनुसार विभिन्न रूप धारण करते रहे हैं।

जैन दर्शन अथवा आर्हत दर्शन की परम्परा भगवान ऋषभदेव से संबद्ध है जो श्रीमद्‌भागवत में परमहंसावस्था के आर्ष के रूप में चर्चित है। इस दर्शन में आत्मा स्थिर और जगत् अनादि माना जाता है। सत् क्षणिक नहीं, उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जगत् में दो तत्त्व हैं – चित् और अचित्। विश्व में पाँच सत्ता रखनेवाले तत्त्व 'अस्तिकाय' के रूप में मान्य हैं – जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्‌गल। जीवों की दो कोटियाँ हैं – मुक्त और संसारी। पुद्‌गल स्पर्श, रस, वर्ण वाला तत्त्व है, चार पुद्‌गल हैं – पृथ्वी, जल, वायु और तेज। कुछ अन्य जैन दार्शनिक सात तत्त्व मानते हैं – जीव, अजीव, आसव, बन्ध, सँवर, निर्जर और मोक्ष।

जैन दर्शन में मोक्ष के तीन मार्ग माने गये हैं – सम्यक् दर्शन, सम्यक चरित्र और सम्यक् ज्ञान। जैन दर्शन बौद्ध दर्शन से प्राचीन है, पर बौद्ध दर्शन की भाँति देश के बाहर न फैलकर देश के भीतर ही अनेक जैनाचार्यों, जैन मुनियों द्वारा प्रचारित-प्रसारित होता रहा है। प्राकृत में इनके द्वारा विरचित विपुल वाङ्‌मय उपलब्ध है। महावीर तथा उनके अनुयायियों द्वारा जैन दर्शन का विशेष प्रसार हुआ। अहिंसा, अस्तेय तथा अपरिग्रह जैसे सप्त महाव्रतों के अनुष्ठान द्वारा कायाशोधन और चित्तशोधन का प्रयास किया गया।

इतिहास के सन्दर्भ में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बौद्ध और जैन दर्शन के प्रवर्त्तक क्षत्रिय वंश के हैं और उन्होंने संस्कृत के स्थान पर पालि और प्राकृत जैसी जनभाषाओं के माध्यम से अपने उपदेश दिये। वेदवादी कर्मकांडी ब्राह्मणों के बढ़ते हुए प्रभाव की प्रतिक्रिया में यह प्रवृत्ति संभव है। ब्राह्मणों के प्रति अनास्था से ही संस्कृत भाषा की उपेक्षा हुई। ये तत्कालीन सामयिक प्रभाव भारतीय दर्शन को विविध दिशाओं में समय–समय पर मोड़ते रहे हैं।

नास्तिक और अनिश्वरवादी दर्शनों की चर्चा के उपरान्त भारत के प्रख्यात षड्दर्शनों का उल्लेख अपेक्षित है जिनका समग्र भारतीय साहित्य और विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव रहा है। इनमें वैशेषिक दर्शन, न्याय-दर्शन, सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन, पूर्वमीमांसा दर्शन तथा उत्तर-मीमांसा दर्शन बहुचर्चित रहे हैं।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि है। इस दर्शन में ईश्वर, जीव दोनों नित्य हैं। सात पदार्थ माने गये हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। पंच महाभूत, काल दिक्, आत्मा और मन – ये नव द्रव्य हैं। चौबीस गुण हैं – स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभव, परत्व, अमरत्व, इच्छा, द्वेष, प्रपन्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संरचना, धर्म, अधर्म, शब्द। बुद्धि दो प्रकार की मानी गयी है – १.अनिश्चयात्मिका २. निश्चयात्मिका। निश्चयात्मिका बुद्धि प्रमा विद्या है, अनिश्चयात्मिका बुद्धि अप्रमा (अविद्या) कही गयी है। अविद्या के भी तीन रूप माने गये हैं – संशय, विपर्यय (उल्टा ज्ञान) और स्वप्न। कणाद के वैशेषिक दर्शन का ऐतिहासिक दृष्टि से वाङ्मय की अन्य विधाओं–साहित्यिक कृतियों में विशिष्ट निरूपण नहीं हुआ। विचारकों तक ही इसकी चर्चा प्रायः सीमित रही।

न्याय-दर्शन : इसके प्रणेता गौतम हैं। इस दर्शन की मान्यताओं का विवेचन - विश्लेषण दर्शन-ग्रन्थों तक सीमित न रहकर वाङ्मय के अनेक रूपों में होता रहा। इस दर्शन में इन सोलह तत्त्वों की यथार्थ प्रज्ञा अथवा वास्तविक ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है – प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। ज्ञान के चार प्रमुख साधन माने गये – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन साधनों का प्रमाणों के रूप में उल्लेख और उपयोग भारतीय वाङ्मय की अनेक साहित्यिक और वैचारिक कृतियों में निरन्तर होता रहा है। इस दर्शन के अनुसार पूर्वकृत कर्म से शरीर का निर्माण होता है। मन अनुरूप अन्तरिन्द्रिय है। बुद्धि ज्ञानोपार्जन की शक्ति है। अनित्य पदार्थों के स्थूल रूप और गुणों से परे उठकर उनके परमाणु रूप का विस्तार होता है। काव्य में जहाँ-जहाँ दार्शनिक सिद्धान्तों तथा मतवादों का निरूपण हुआ वहाँ न्याय-दर्शन के उपकरणों का प्रचुर आश्रय लिया गया है। वैयाकरणों और दार्शनिकों ने समान रूप से इस दर्शन का आधार ग्रहण किया है।

सांख्य-दर्शन : महर्षि कपिल इसके आदि प्रवर्त्तक माने गये हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में 'तत्व विचार निपुण भगवाना। सांख्य शास्त्र जिन्ह प्रकट बखाना' कहकर कपिल का उल्लेख किया है। न्याय-दर्शन के परमाणुवाद से ऊपर उठकर प्रकृति का प्रतिपादन इस दर्शन का वैशिष्ट्य है। सांख्य-दर्शन में जगत् की विवेचना अपनी सीमा पर पहुँची। सांख्य-दर्शन पर ईश्वरकृष्ण की कारिका बहुत प्रामाणिक मानी जाती है। इस दर्शन में मूलतः दो अनादि तत्त्व माने गये प्रकृति और पुरुष। जगत् में प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और उभयमिश्र चार पदार्थ हैं। प्रकृति से महत्तत्व, उससे अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ-पञ्चतन्मात्राओं से महाभूत उत्पन्न हुए। जीव निर्लिप्त है, पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। सत्व, रज और तम

– इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति मानी गयी। सांख्य–दर्शन में सृष्टि के पच्चीस तत्त्व माने गये-(अव्यक्त) प्रकृति, महात्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध), पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, पावक, समीर, गगन), दस इन्द्रियाँ (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्चकर्मेन्द्रियाँ) तथा मन – इन चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त पच्चीसवाँ तत्त्व है पुरुष। पदार्थ का नाश नहीं होता, मात्र तिरोभाव होता है। सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों में बड़ा लोकप्रिय हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य दर्शन के आधार पर ज्ञानयोग और कर्मयोग की व्यापक चर्चा हुई। भगवान कपिल को 'तत्त्वविचारनिपुण भगवाना' कहकर गोस्वामी तुलसीदास ने इस दर्शन की महत्ता को स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत में कपिल–देवहूति संवाद में इस दर्शन का विशद उल्लेख हुआ है।

योग-दर्शन : महर्षि पतञ्जलि का योग-दर्शन भारतीय विचारधारा तथा अध्यात्मसाधना का प्रेरक अद्भुत दर्शन रहा है। इसे 'सेश्वर सांख्य दर्शन' भी कहा गया है, क्योंकि सांख्य-दर्शन के तत्त्वों में ईश्वर की चर्चा नहीं है। इस दर्शन में सांख्य-दर्शन के पच्चीसवें तत्त्व पुरुष के अतिरिक्त छब्बीसवें पुरुष विशेष का निरूपण है। प्राणियों के क्लेशनाश का एक व्यावहारिक साधना मार्ग इस दर्शन में निर्दिष्ट है। इस दर्शन के अनुसार जीव के पाँच क्लेश हैं – अविद्या, अस्मिता, शम, द्वेष और अभिनिवेश। संसार दुखमय है, अतः हेय है । चित्तवृत्तियों के कारण संसार में कर्मबन्धन है। अतः चित्तवृत्ति के निरोध का उपदेश दिया गया है - 'योगश्चित्तवृतिनरोधः'- योग का अर्थ ही चित्तवृत्ति का निरोध माना गया। इस योग दर्शन के आठ मुख्य अंग माने गये – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग के आरोहण के यही आठ सोपान कहे गये। प्रत्येक के स्वरूप की विशद व्याख्या की गयी।

ईश्वर को नित्यमुक्त, कर्मविपाक तथा आशयसम्पर्क से शून्य, अद्वितीय ज्ञानस्वरूप माना गया। पतञ्जलि का योग दर्शन जीवन के संवेगशोधन की प्रक्रिया के विविध आयामों का निर्देश करते हुए भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को चरितार्थ करता है। आधुनिक युग में भी उसकी उपयोगिता और महत्ता निरन्तर स्वीकृत हो रही है। यहाँ तक कि चिकित्सा शास्त्र के प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र में भी योग-दर्शन की उपलब्धियों से प्रेरणा लेकर अनेक नवीन प्रणालियाँ विकसित की जा रही हैं। भारतीय दर्शन और अध्यात्मसाधना के इतिहास में ही नहीं विश्वचेतना के विकास में भी इस दर्शन का अपना मौलिक योगदान प्रत्यक्ष है।

भारतीय योग-साधना के विकास-क्रम में योग की अनेक धाराएँ प्रवर्तित होती रहीं, जिनमें विशेषतः उल्लेखनीय हैं – हठयोग, कुण्डलिनीयोग, लययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग इत्यादि। इनके अतिरिक्त आधुनिक युग के प्रज्ञापुरुष स्वामी विवेकानन्द का राजयोग तथा महर्षि श्री अरविन्द का पूर्णयोग, जिसमें योगसाधना के माध्यम से तन, मन, प्राण, चित्त और हृदय के सर्वतोमुखी ऊर्ध्व आरोहण के द्वारा क्रमशः समस्त चेतना तथा प्रकृति का दिव्य रूपान्तर लक्ष्य रहा है। अन्ततः योग की संसिद्धि में मानव जीवन और विश्वचेतना की सारी समस्याओं का सनातन समाधान खोजने की प्रक्रिया संचरणशील है।

पूर्वमीमांसा-दर्शन : इसके प्रवर्तक जैमिनी हैं, जिन्होंने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह लोक में मीमांसा दर्शन के नाम से भी प्रख्यात है। इस दर्शन के अनुसार वेद नित्य हैं। मन्त्र ही देवता स्वरूप हैं। वेदों के पाँच अंग हैं – विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति और नामधेय। शब्द नित्य है, वेदादि ग्रन्थ के तात्पर्य समझने में मन्त्र का उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उत्पत्ति – ये सात बातें ध्यातव्य हैं। प्रत्येक वर्णन किसी व्यापार अथवा कर्म का बोधक होता है। कर्म स्वयं फलोत्पादन हेतु होता है। पूर्वमीमांसा दर्शन का उद्देश्य शास्त्रनिष्ठ पद्धति पर अभ्युदय – निःश्रेयस की सिद्धि था।

उत्तरमीमांसा-दर्शन : भगवान वादरायण व्यास इसके प्रवर्त्तक हैं। यह दर्शन वेदान्त दर्शन के नाम से भी अभिहित है। ब्रह्मजिज्ञासा हेतु इस दर्शन की सृष्टि हुई – ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त दर्शन का प्रथम सूत्र वाक्य ही है – 'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा'। तत्पश्चात 'जन्माद्धस्य यत' इत्यादि अन्य सूत्रों कां विस्तार होता है। जिनके द्वारा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की प्रक्रिया चलती है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्मसूत्र अथवा उत्तरमीमांसा-दर्शन के अनेक भाष्य अनेक दृष्टिकोणों से किये गये हैं। ब्रह्मसूत्र को 'न्याय-प्रस्थान', प्रमुख एकादश उपनिषदों को 'श्रुति प्रस्थान' तथा श्रीमद्भगवद्गीता को 'स्मृति प्रस्थान' मान कर उक्त तीन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी के नाम से अभिहित किया गया है। सारे परवर्ती आचार्यों – शंकराचार्य और रामनुजाचार्य इत्यादि ने प्रस्थानत्रयी के आधार पर ही वेदान्त दर्शन अथवा उत्तरमीमांसा दर्शन की अपनी-अपनी विशिष्ट धारणाओं के अनुरूप शास्त्रीय व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

भारतीय दर्शन की परम्परा वेदान्त दर्शन के अनन्तर भी चलती रही है, जिनमें अनेक भारतीय विचारकों, महापुरुषों तथा योगियों का ऐतिहासिक योगदान रहा है। प्रवृत्ति प्रायः परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं के समुचित व्यावहारिक समन्वय की ओर रही। परमहंस रामकृष्णदेव-स्वामी विवेकानन्द, रमण महर्षि तथा योगिराज श्री अरविन्द ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं। श्री अरविन्द का समन्वयवादी दर्शन पूर्णाद्वैत दर्शन के नाम से चर्चित है, जिसमें प्राचीन वैदिक ऋषियों से लेकर आधुनिक मनीषियों की विविध अवधारणाओं का सर्वग्राही समन्वय करके भारतीय दर्शन को सार्वभौम स्वरूप देने का यह प्रयत्न प्रत्यक्ष है।

भारतीय इतिहास की संघर्षकालीन और संक्रमणकालीन परिस्थितियों में भारतीय दर्शन की प्रमुख धारा में इस्लाम और ईसाई सत्ताधारियों तथा प्रचारकों की विचारसरणियों ने प्रवेश किया। मुख्यतः इस्लाम के एकेश्वरवाद का दर्शन उल्लेखनीय है जिसमें मूर्तिपूजा-बुतपरस्ती, अवतारवाद तथा बहुदेववाद के प्रति तीव्र अनास्था और विरोध की प्रवृत्ति प्रबल थी। सूफी सन्तों के साथ अनलहक का सिद्धान्त भी आया जो भारतीय 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही इस्लामी रूपान्तर था। ऋगवेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अन्तर्गत इस्लामी एकेश्वरवाद का भी व्यापक भाव स्वतः समाहित किया जा सकता है। भारतीय दर्शन ने देश-कालानुसार उचित सीमाओं में विदेशी दर्शन की धाराओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया। इस्लाम के भ्रातृभाव का आदर्श भी भारतीय 'वसुधैव कुटुम्बकम' की व्यापक सनातन धारणा में अनुस्यूत है।

ईसाई मत में ईसा के 'करुणा' का आदर्श भी भारतीय 'अहिंसा और विश्वमैत्री' की भावना में पहले से ही प्रतिष्ठित था।

यूरोप से मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र की विचारधाराओं का आगमन भारतीय मनीषियों में हुआ। मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और 'आर्थिक समाजवाद', फ्रायड का 'स्वप्नसिद्धान्त' और 'अतृप्त दमित वासनाओं' की प्रबलता का प्रतिपादन तथा सार्त्र के 'अस्तित्ववाद' की अवधारणाएँ भारतीय विचारधारा में यत्र-तत्र समाविष्ट हुईं, पर सामान्य जनमानस पर उसका कोई स्थायी प्रभाव सम्भव नहीं हुआ। भारतीय पुनर्जागरण युग में राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि ब्रह्म समाज के प्रचारकों, महर्षि दयानन्द के आर्य समाज और वैदिक पुनरुत्थान की चेतना, परमहंस रामकृष्ण देव, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, थियोसोफिकल सोसायटी की संस्थापिका ऐनी बेसेन्ट तथा उसके परवर्ती राममूर्ति, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विश्वमानवता' के आदर्श तथा श्रीअरविन्द के 'दिव्य जीवन' तथा 'अतिमानस दर्शन' की नवीन अवधारणाओं ने सारे पाश्चात्य प्रभावों की हलचल में भी विशुद्ध भारतीय दर्शन की मूल आध्यात्मिक चेतना को अक्षुण्ण रखा। वे परम्परागत संकुचित सीमाओं तथा रूढ़िग्रस्त धारणाओं से परे उठ कर भौतिकता और आध्यात्मिकता का, विज्ञान और योग का समुचित समन्वय करते हुए विश्वचेतना को एक मंगलमय उज्जवल भविष्य की ओर अग्रसर करते रहे।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पाश्चात्य संस्कृति के बहिरंग उपकरणों और व्यापारों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति तथा उद्योग प्रधान अर्थकारी वृत्ति की प्रबलता के परिणामस्वरूप – साथ ही विदेशी पद्धति की शिक्षा-दीक्षा के प्रभावस्वरूप भारतीय संस्कृति तथा भारतीय जीवनपद्धति के प्रति जो उपेक्षा और उदासीनता विशेष रूप से नगरों के तथाकथित शिष्ट और आभिजात वर्ग में दृष्टिगोचर हो रही है, वह एक सामयिक उभार है और शीघ्र ही भारतीय चेतना की ऊर्जा और प्राणशक्ति के अदम्य प्रवाह में स्वतः अपने निजी स्वभाव, स्वधर्म, स्वकर्म और स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित होगा। भारतीय दर्शन का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि प्रत्येक नया दार्शनिक पूर्ववर्ती दार्शनिक की मान्यताओं का खंडन करते हुए भी उसके मूलभूत तात्त्विक चिन्तन सूत्र को सुरक्षित रखता है, जिससे नवीन अवधारणा एक सुहृद पूर्वपीठिका पर प्रतिष्ठित होकर अपना मार्ग बना सके। भगवान बुद्ध से लेकर शंकराचार्य, रामानुज तथा वल्लभाचार्य इत्यादि सभी आचार्यों ने अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन इसी पद्धति पर किया है। बौद्ध दर्शन का तथाकथित अनात्मवाद वस्तुतः आत्मवाद के नाम पर अहंवाद की प्रवृति के निराकरण हेतु प्रवर्तित हुआ। परम्परागत अहिंसा और विश्वप्रेम के सनातन सिद्धान्त को वे यहाँ तक उत्कर्ष पर ले गये कि बोधिसत्व ने 'निर्वाण' और 'सम्बोधि' की अनुभूति होने पर भी यही संकल्प किया कि जब तक सृष्टि का एक भी प्राणी दुःखी है, मैं अपनी सिद्धि को अपूर्ण मानूँगा। शंकराचार्य ने कुमारिल भट्ट के कर्मकांडी सिद्धान्तों की अतिरंजना के निराकरण के लिए 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करते हुए ज्ञानमूलक अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की, लोक को मायाजनित दुख और अज्ञान का भ्रान्तिमय व्यापार मानकर कर्मसंन्यास की प्रेरणा दी, जिसमें बौद्ध दर्शन

की अनेक अवधारणाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव विद्यमान था। इसी दृष्टि से अनेक परवर्ती आचार्यों ने शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक घोषित किया, पर इस प्रच्छन्न बौद्धत्व में पूर्ववर्ती दर्शन की भूमिका पर नवीन दर्शन की सुहृद स्थापना का स्वर मुखर रहा है। रामानुज ने शंकर के ज्ञानपरक अद्वैतवाद में रागात्मिका वृत्ति की उपेक्षा तथा कर्म से पलायन की प्रवृत्ति को बढ़ते हुए देखकर 'चिदचिद विशिष्ट' ब्रह्म का निरूपण करते हुए अद्वैतवाद के ही समकक्ष विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रवर्तन किया।

रामानुज के अनन्तर स्वामी रामनन्द ने उत्तर भारत में आकर नारायण विष्णु के स्थान पर मर्यादापुरुषोत्तम राम के नाम, रूपलीला और राम की उपासना का विशेष प्रसार किया। उन्हें प्रतीत हुआ कि देवलोक बैकुण्ठवासी नारायण की अपेक्षा राम लोकसाधना की दृष्टि से अधिक उपयुक्त सिद्ध होंगे, क्योंकि उन्होंने नरावतार लेकर इसी धरती पर इसी मानवता के बीच नाना समस्याओं और परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए लोकादर्श तथा रामराज्य का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। जनमानस में भागवत तत्त्व अधिक रागात्मक रूप में सहज भाव से प्रतिष्ठित हो, इसी उद्देश्य से स्वामी रामानन्द ने निर्गुण - सगुण, निराकार - साकार सभी रूपों में अवतारवाद तथा अवतारातीत परात्पर ब्रह्म के प्रति जनभावना को प्ररोचित किया। नाना वर्णों के सभी भक्तों को समान गौरव प्रदान किया और भक्ति के नाते सभी प्राणियों को अध्यात्मसाधना में अग्रसर करके 'भक्ति' को उपासना - मात्र के रूप में स्वीकार कर एक व्यापक रागात्मक संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

परम्परागत मान्यताओं की परिपक्व पृष्ठभूमि पर अनेक नवीन अवधारणाओं को देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप प्रवर्तित करते हुए समन्वित रूप में सार्वभौम सनातन विचारधारा के प्रचार-प्रसार द्वारा लोकमंगल की संसिद्धि ही भारतीय दर्शन की व्यापक प्रवृत्ति रही है और इसीलिए आज भी विश्व की दार्शनिक चिन्तनसरणियों के बीच उसकी मौलिक ऐतिहासिक उपलब्धियाँ अभिनन्दनीय हैं।

हमारी सांस्कृतिक विरासत *

(हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में)

– खगेन्द्र ठाकुर

संस्कृति की चिन्ता करना आमतौर से व्यक्ति के जीवन में और सामाजिक जीवन में भी अच्छाई की चिन्ता करना है। आज का मनुष्य जब अपने इर्द-गिर्द देखता है और महसूस करता है कि हर तरफ पतनशीलता व्याप्त है, मूल्यहीनता व्याप्त है, चारों तरफ जोर जबरदस्ती है, हिंसा है, लूट-पाट है तो इस तरह के अनुभवों के बीच सुधार या परिष्कार की सम्भावना से निराश होकर मनुष्य संस्कृति की खोज अतीत में जाकर करने लगता है। इसी स्थिति और मनोदशा में मनुष्य विरासत की खोज भी ठीक से नहीं कर पाता, बल्कि खोज करने की जरूरत ही नहीं समझता। वर्तमान से निराश भविष्य के प्रति कुंठाग्रस्त मनुष्य समझने लगता है कि पौराणिक कथाओं और प्राचीन साहित्य में ही संस्कृति सुरक्षित है। लेकिन असलियत यह है कि संस्कृति निरन्तर विकासमान होती है, क्योंकि वह एक सामाजिक परिघटना है। इसलिए गतिशील और परिवर्तनशील समाज में संस्कृति भी गतिशील और परिवर्तनशील होती है। संस्कृति के इसी पक्ष को समझने की जरूरत है। जो लोग संस्कृति को प्राचीन कथाओं और ग्रन्थों में खोजते हैं, वे प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने, पढ़ते रहने को संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जरूरी समझते हैं। इस तरह संस्कृति का अध्ययन करने का परिणाम यह होता है कि हम यथार्थ से कट जाते हैं, जीवन के यथार्थ से, समाज के यथार्थ से, इतिहास के यथार्थ से। यथार्थ अनवरत गतिशील होता है, इसलिए विकासमान होता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक नहीं है, वह तो आवश्यक है ही, लेकिन अपने को वहीं तक सीमित रखने का फल यह होता है कि पुस्तकों से बाहर और आगे जो विशाल दुनिया है, जो नयी दुनिया है, उससे जुड़ना, उसका साक्षात्कार करना, उसे अपने प्रत्यक्ष इन्द्रियबोध की सीमा में लाना अपनी रचनात्मकता के विकास के लिए जरूरी है। संस्कृति के विकास में हम अपनी भूमिका अदा कर सकें, इसके लिए भी अपने सामने के यथार्थ को आत्मसात करना जरूरी है।

मनुष्य की विशिष्टता पर हम ध्यान दें, उसे सही ढंग से समझें तो संस्कृति को भी ठीक से समझ सकेंगे। संसार के समस्त प्राणियों में अकेले मनुष्य है जो रचना करता है। कबीर ने अपने ढंग से कहा – "लख चौरासी योनि में मानष जन्म अनूप।" क्या अनुपमता है मनुष्य की? यही कि वह अपनी आवश्यकता के अनुसार, अपनी योजना के अनुसार रचना कर सकता है। वह रचना करने के लिए औजार बना सकता है, नये-नये औजार बना सकता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का भी निर्माण करता है। इसी विशिष्टता ने मनुष्य को स्रष्टा बना

---

* हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में प्रदत्त हलवासिया स्मृति व्याख्यान

दिया। यहीं से वह संस्कृति का भी निर्माता बनकर इतिहास में अपनी जगह बनाने में समर्थ होता है। संस्कृति के निर्माता के रूप में मनुष्य तभी समर्थ रूप में सामने आता है, जब वह अपने को प्रकृति से अलग करना शुरू करता है। यों यह ध्यान देने लायक है कि मनुष्य के पास संस्कृति तब भी थी जब वह जंगल में रहता था, जब वह असभ्य था, बर्बर था। वह संस्कृति की बर्बर अवस्था थी। लेकिन प्रकृति से अपने अन्तर्विरोध और संघर्ष के फलस्वरूप मनुष्य अपने को क्रमशः प्रकृति से अलग करता जाता है। यह प्रकृति से मनुष्य के अलगाव की प्रक्रिया का प्रारम्भ है। इस प्रक्रिया में मनुष्य के श्रम की जो भूमिका है, उसे ध्यान में रखना चाहिए। इसी प्रक्रिया से मनुष्य ने भाषा अर्जित की, अपनी सर्जनात्मक क्षमता का विकास किया और संस्कृति की पिछली अवस्था से आगे बढ़कर नयी अवस्था तक पहुँचा। इस प्रक्रिया के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृति एक सामाजिक परिकल्पना है। दूसरी बात यह कि संस्कृति आम जनता की मौलिक और रचनात्मक गतिविधियों की श्रेष्ठ उपलब्धियों की मूल्यगत अभिव्यक्ति है। समाज में मनुष्य की रचनात्मक गतिविधियों और स्वयं मनुष्य के प्रति रुख से समाज में संस्कृति की स्थिति या अवस्था का पता चलता है। यहाँ पर मैं इस बात की ओर ध्यान देने का आग्रह करना चाहता हूँ कि स्वयं मनुष्य की और उसके समाज की एक अवस्था ऐसी थी कि उसके पास भाषा नहीं थी। वह सब भी नहीं था जिन्हें हम मनुष्य की रचनात्मक गतिविधि और सांस्कृतिक विकास का प्रमाण मानते हैं, जैसे संगीत, नृत्य आदि। मनुष्य की चेतना के विकास की एक ऐसी अवस्था आयी होगी, जब वह अपनी बातों, विचारों को व्यक्त करने के लिए बेचैन हुआ होगा। प्रकृति की ध्वनियों को पकड़कर ही उसने अपने मुँह में भीतरी अवयवों का भोजन चबाने और निगलने से भिन्न उपयोग करके शब्दों का उच्चारण किया। जीभ, तालु, दाँत, मूर्द्धा, कण्ठ आदि के नये रचनात्मक उपयोग से भाषा विकसित हुई। फिर उन्हीं अवयवों का और भिन्न उपयोग करके मनुष्य ने संगीत का विकास किया। जिन पैरों से धरती पर चलने का काम लेता रहा, उन्हें भी भिन्न ढंग से साधकर मनुष्य ने नृत्य का विकास किया। तलहथी और हाथों की अंगुलियों के नये इस्तेमाल से भी संगीत की संगत के लिए भाषेतर ध्वनि पैदा की। इन सब से यह बात सामने आयी कि मनुष्य मूलतः रचनाकार है और वह लगातार अपनी रचनात्मकता को विकसित करता रहा है। इस विकास में समाज के बदलते हुए स्वरूप और विकसित होते हुए यथार्थ के प्रभाव से मनुष्य की रचनात्मकता का स्वरूप बदलता रहा है। समाज और संस्कृति का सम्बन्ध विकास की दृष्टि से अन्योन्याश्रित है, यों मुख्य भूमिका समाज की ही होती है। समाज का स्वरूप मनुष्य के आपसी रिश्तों का निर्धारण करता है।

एक समय ऐसा था जब समाज में समानता थी। वह अत्यन्त पिछड़ा हुआ समाज था, मनुष्य की उत्पादन क्षमता बहुत कम थी, सामूहिकता उत्पादन की आवश्यकता थी, इसलिए उपयोग भी सामूहिक था। ऐसी अवस्था में मनुष्य में आपसी भेद-भाव नहीं था, ऊँच-नीच का बोध नहीं था। आगे चलकर नये-नये औजारों के विकास ने मनुष्य की क्षमता में वृद्धि की, इससे सामूहिकता टूटी, वैयक्तिक भोग-भाग की प्रवृत्ति पैदा हुई, तो समाज का स्वरूप बदला और भेद-भाव का उद्भव हो गया। फलतः मनुष्य के प्रति मनुष्य के रुख में परिवर्तन हुआ और होता

गया। परिवर्तन की यह प्रक्रिया संस्कृति के विकास और परिवर्तन का स्रोत है। यह अन्तर्विरोधी बात है कि एक तरफ मनुष्य की रचनात्मक क्षमता बढ़ रही थी, समाज पिछड़ी हुई अवस्था से आगे प्रगति की ओर बढ़ रहा था, तो दूसरी ओर मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद-भाव पैदा हो रहा था, मनुष्यता संकुचित होती जा रही थी। दास समाज में मनुष्य ही मनुष्य का दास हो गया, सामन्ती समाज में मनुष्य का शोषण बढ़ा, सामन्त और किसान अन्तर्विरोध में यह अनुभव हुआ कि पैदावार पर पैदा करने वाले का अधिकार नहीं रहा और शोषण के कई रूप विकसित हुए। इसी क्रम में वर्ण-व्यवस्था टूट कर जातिप्रथा का रूप ले लेती है और मनुष्य जन्म के आधार पर छोटा या बड़ा, ऊँच या नीच समझा जाने लगा। इस तरह सामन्ती संस्कृति विकसित हुई। इसी तरह भाप के इंजन के अविष्कार के बाद जो मशीनें बनीं और उत्पादन की प्रक्रिया में उनका उपयोग किया गया तो सामन्ती समाज के गर्भ से एक नये समाज ने जन्म लिया, जिसे पूँजीवाद कहा गया है। पुराने सम्बन्धों के अलावा उद्योगपति और पूँजीपति के साथ ही औद्योगिक मजदूर अस्तित्व में आये। एक नयी किस्म का बाज़ार अस्तित्व में आया। माल-मुद्रा सम्बन्ध ने मनुष्य के सम्बन्धों को प्रभावित किया। इसे पूँजीवादी संस्कृति कहा गया। इस संस्कृति में व्यावसायिकता प्रधान हो गयी। समाज-विकास की इस प्रक्रिया का मनुष्य के सांस्कृतिक विकास से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इससे भिन्न किसी अन्य तरह से संस्कृति को समझने की कोशिश हमें संस्कृति की वास्तविकता से अलग कर देती है। जैसे धर्म के आधार पर संस्कृति को समझने से संस्कृति के विकास की वास्तविक प्रक्रिया ओझल या धूमिल हो जाती है। संस्कृति के विकास पर धर्म का प्रभाव पड़ सकता है, कई बार इतिहास में उसका प्रभाव पड़ा भी है, लेकिन संस्कृति की पहचान धर्म के आधार पर नहीं की जा सकती, खास करके धर्म का जो अर्थ आज लोगों की चेतना में बसा हुआ है, उसके आधार पर संस्कृति की पहचान नहीं हो सकती। मैं कहना चाहता हूँ कि सभी धर्मों का उदय तो पीड़ित मनुष्यता के पक्ष में हुआ, शोषितों-पीड़ितों के पक्ष में धर्मों ने आवाज उठायी, करुणा जगायी, संवेदनशीलता का प्रसार करने की कोशिश की, लेकिन आगे चलकर समाज के शासकों और शोषितों ने धर्म के प्रति मनुष्य की भावना का इस्तेमाल करके अपने स्वार्थों के पक्ष की बातें घुसा दीं और धर्म का अर्थ और भूमिका इस कदर बदली कि उसका उपयोग मेहनतकशों और पीड़ितों के खिलाफ ही किया जाता रहा है। इसलिए धर्म का सम्बन्ध संस्कृति से यदि माना ही जाय तो वह धनाढ्यवर्ग की, शासक वर्ग की यथास्थितिवादी संस्कृति से ही होगा। समाज की जरूरतों की पूर्ति करने वाले मेहनतकशों के माध्यम से सांस्कृतिक विकास होता है, उसका सम्बन्ध धर्म से नहीं बैठता। धर्म समाज की वह चेतना है जो मनुष्य को इस संसार के यथार्थ से दूर किसी अदृश्यलोक और अदृश्यशक्ति की ओर ले जाता है। धर्म में सब कुछ पूर्वनिर्धारित होता है, जिसमें मनुष्य की रचनात्मकता का कोई योगदान नहीं हो । इसलिए निरन्तर परिष्कृत होते रहने वाली संस्कृति के विकास में धर्म का योगदान नहीं के बराबर होता। भारतीय संस्कृति की भी जो जीवन्त धारा है, वह भारतीय जनता की उपलब्धियों का परिणाम है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। संस्कृति के क्षेत्र में विनिमय होता है, जिससे संस्कृति समृद्ध होती है जब कि धर्म के क्षेत्र में विनिमय का निषेध किया जाता है, विभिन्न धर्मों के मूल में समानता के बावजूद इस प्रसंग में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह

कथन अत्यन्त प्रासंगिक है – "जीवन का संचार जीवित माध्यम से ही सम्भव है और संस्कृति में मन का जीवन है। यह केवल मनुष्यों के आदान-प्रदान और विचार-विनिमय द्वारा फैल सकती है। संस्कृति विकासशील है और जीवन के विकास के साथ ही परिवर्द्धित और परिवर्तित होती है।"

भारतीय समाज में जब से भेद-भाव पैदा हुआ, जब से मनुष्य जन्म से ऊँच-नीच समझा जाने लगा, जब से सामाजिक विषमता पैदा हुई, तब से ही भेद-भाव और विषमता के खिलाफ और समानता के पक्ष में संघर्ष की भी शुरुआत हो गयी। इसी आधार पर संस्कृति की कम-से-कम दो धाराएँ तो हो ही गयीं। प्राचीन काल में ही आजीवकों, चार्वाकों, बौद्धों, जैनियों आदि ने विषमता के खिलाफ अभियान का आरम्भ कर दिया। बौद्धों और जैनियों के अभियान को श्रमण-संस्कृति कहा गया। इस श्रमण-संस्कृति का टकराव ब्राह्मण-संस्कृति से होता रहा। इस सांस्कृतिक टकराव का भी इतिहास है, जो भारतीय समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ हम तक पहुँचा है। सांस्कृतिक टकराव का अर्थ है जीवन मूल्यों का टकराव। अतः हम इसके इतिहास में मानव-मूल्यों की स्थिति अथवा मानव-मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के संघर्ष का इतिहास पाते हैं। इस प्रसंग में अपने को डॉ. आबिद हुसैन के इस कथन के नजदीक पाता हूँ – "संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है , जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरणों के साथ-साथ उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट रूप दिये जाने में अभिव्यक्त होती है।" (भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृ.३) इस कथन में प्रारम्भ में ही 'उच्चतम मूल्यों की चेतना' के जरिये यह स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि संस्कृति की पहचान की कसौटी क्या होगी? डॉ. आबिद हुसैन के मुताबिक मनुष्य को और उसके माध्यम से समाज को ऊपर उठाने वाली चेतना की अभिव्यक्ति ही संस्कृति है। इसी आधार पर मनुष्य का मूल्य आँका जाना चाहिए। इस दृष्टि से जो लोग संस्कृति को देखते और समझते हैं, उनके विचारों में एक प्रकार की समानता पायी जाती है। हुमायूँ कबीर कहते हैं – "संस्कृति अपने को भाषा, कला, दर्शन, धर्म, सामाजिक व्यवहार और प्रथाओं, राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक संगठनों के जरिए व्यक्त करती है। उनमें से कोई एक संस्कृति नहीं है लेकिन समन्वित और सामूहिक रूप से वे जीवन को अभिव्यक्त करते हैं, जिन्हें हम संस्कृति कहते हैं।" (भारतीय विरासत, पृ. ४५) हुमायूँ कबीर संस्कृति का सम्बन्ध भाषा, कला आदि के साथ ही आर्थिक, राजनीतिक स्वरूपों में भी मानते हैं। इनके आधार पर जो जीवन बनता है उसकी अभिव्यक्ति संस्कृति में होती है। धर्म का जिक्र भी इन्होंने किया है जो ध्यान देने योग्य है। मनुष्य की संस्कृति जिन चीजों में व्यक्त होती है, उनमें एक धर्म भी है यानी संस्कृति में धर्म नहीं व्यक्त होता, धर्म में संस्कृति व्यक्त होती है। इस तरह मुख्य है जीवन का गठन करने वाले साधन और जीवन का स्वरूप। इसी प्रसंग में डॉ. भगवत शरण उपाध्याय के विचार भी ध्यान देने योग्य हैं – "भारतीय संस्कृति विभिन्न जातीय इकाइयों के सुदीर्घ और अन्तहीन संलयन का प्रतिफल है। ..... भारत ने सृजन कार्य अनन्त किये हैं। विश्व-संस्कृति को जितना उसने दिया है, उतना सम्भवतः अन्य किसी अकेले राष्ट्र

ने नहीं दिया। किन्तु जो कुछ उसने दिया है, उसकी अपेक्षा लिया उसने अधिक है, क्योंकि देते समय जहाँ भारत अकेला रहा है, वहाँ लेते समय उसे देने वाले अनेक रहे हैं। उसकी विजय उसकी अद्भुत आत्मसात करने की प्रतिभा में सम्पन्न हुई है। (भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ. १०) इस कथन में निहित मान्यता में ध्यान देने की पहली बात यह है कि संस्कृति सृजन का परिणाम है। दूसरी बात यह कि विभिन्न जातीय (राष्ट्रीय) इकाइयों ने अपने-अपने ढंग से संस्कृति का सृजन किया है। तीसरी बात यह कि उन राष्ट्रीय इकाइयों की सृजनशीलता की उपलब्धियों का अर्थात् उनकी संस्कृतियों का आपस में मिलन होता रहा है, सामंजस्य और समन्वय होता रहा है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति जनता की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसी प्रसंग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन याद आता है कि भारतीय संस्कृति भारतीय जनता की सर्वोत्तम उपलब्धि है। उपलब्ध करने की यह जन-कार्रवाई कभी रुकती नहीं, इसलिए आचार्य द्विवेदी के अनुसार भारतीय संस्कृति अतीत से चलकर आज तक फैली हुई है। संस्कृति के विकास की प्रक्रिया में कभी पूर्ण विराम नहीं लगता।

संस्कृति की जो अवधारणा ऊपर दी गयी है, उस अर्थ में भारतीय संस्कृति हमेशा सामासिक रही है। गुप्त काल के पहले ही भारतीय समाज में सिन्धु सभ्यता के उत्तराधिकारियों, आर्यों, यूनानियों, शकों, हूणों आदि का सामंजस्य और समन्वय हो चुका था। इस सामंजस्य और समन्वय से भारतीय संस्कृति समृद्ध हुई थी। साहित्य और कला के माध्यमों ने भारतीय संस्कृति की रचनात्मक विशिष्टता को सुरक्षित रखा है। संस्कृति साहित्य का उपजीव्य है। इसलिए साहित्य के माध्यम से हम संस्कृति को समझते हैं। हकीकत यह है कि हमारे समाज में जो सांस्कृतिक अन्तर्विरोध है, उसके मानवीय पक्ष को, उसके रचनात्मक पक्ष को साहित्य सुरक्षित रखता है। हमारे न पुराना समाज है और न उसके अन्तर्विरोध हैं, लेकिन पुराने समाज की संस्कृति उस समय के साहित्य में सुरक्षित है। साहित्य के अध्ययन से हम उस संस्कृति को समझते हैं। इसी माध्यम से हम यह भी तय करते हैं कि हमारी सांस्कृतिक विरासत क्या है? समाज और साहित्य के विकास की परम्परा से हम जो दायित्व प्राप्त करते हैं, वही हमारी विरासत है। इतिहास का जो प्राप्य है यानी जो हमारे पूर्वजों के द्वारा प्राप्त किया जाना था, लेकिन नहीं किया जा सका, जो इतिहास में पूरा नहीं किया जा सका, बाकी रह गया, वही इतिहास का प्राप्य है। उसे पूरा करना हमारी विरासत है। इतिहास में विरासत एक ही नहीं होती। उसमें विविधता होती है। सब की विरासत एक नहीं होती। इतिहास में हम प्रगति और रूढ़ि दोनों पाते हैं। विरासत भी प्रगतिशील और रूढ़िवादी दोनों तरह की होती है। एक विरासत हमें आगे चलने की शक्ति देती है, आगे ले चलती है, दूसरी अग्रगति से रोकती है, इस तरह हमें पीछे ठेलने वाली होती है। हमें अपने उद्देश्यों के अनुसार अपने परिप्रेक्ष्य के अनुसार विरासत की पहचान करनी चाहिए। आज के दौर में हम जिन उद्देश्यों को लेकर लड़ रहे हैं, जिस ऐतिहासिक ध्येय की पूर्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं, उन उद्देश्यों और ध्येय को लेकर अथवा उनसे मिलते-जुलते उद्देश्यों और ध्येय की पूर्ति के लिए अतीत में भी जिन लोगों ने भी लड़ाई की है, उनकी अधूरी लड़ाई हमारी लड़ाई है। उनके अपूर्ण उद्देश्य और अधूरे कर्म से हमारा सम्बन्ध है। हम उन्हीं

लोगों के ऐतिहासिक वारिस हैं, उनका संघर्ष हमारी विरासत है। हमारे पूर्वजों के संघर्षों की सफलता और विफलता दोनों ही हमारी विरासत के अंग हैं। यहाँ पर हम यह कहना चाहते हैं कि साहित्य की अन्तर्वस्तु का सार तत्त्व है मनुष्यता। मानव-मूल्य और मनुष्यता को समाज के केन्द्र में प्रतिष्ठित करना मनुष्य की सर्जनात्मकता का उद्देश्य पुराने जमाने से रहा है। वैदिक साहित्य में भी अनेक प्रसंगों में मानव-मूल्य के पक्ष की बात, मानवीय समानता की बात मिल जाती है। बौद्ध-साहित्य तो ऐसे प्रसंगों से भरा पड़ा है। वैचारिक रूप से अपने-अपने ढंग से चार्वाकों, बौद्धों आदि ने मनुष्य के पक्ष में जो वैचारिक संघर्ष किये, उन्होंने भारतीय समाज के स्वरूप और संस्कृति को गहरे रूप से प्रभावित किया। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों से सार रूप में मानवतावादी संदेश ही ध्वनित और मुखरित होते रहे हैं और उन्होंने तब से आज तक मनुष्य को सर्जनात्मक प्रेरणा दी है। कालिदास, भवभूति आदि का काव्य धर्मनिरपेक्ष तो है ही, मानवीय संवेदना से भरा हुआ है। यों यह भी सच है कि कथा-प्रसंगों में हम वहाँ मानवीय और अमानवीय दोनों पक्षों का द्वन्द्व देखते हैं और उस द्वन्द्व से ही मानवीय संवेदना का संदेश सुनायी पड़ता है। कालिदास का यह कथन ध्यान देने योग्य है –

> पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न चापि
> काव्यनवमित्यवद्यम्।
> पण्डितः परीक्षान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः
> पर प्रत्ययनेव वा।।
>
> (मालविकाग्निमित्र)

पुराने और नये के द्वन्द्व के बीच परीक्षा यानी समीक्षा करने की प्रेरणा कालिदास जगाते हैं। वे 'पर प्रत्यय' को मूढ़ता कहते हैं। मूढ़ता सृजनशीलता को प्रेरणा या गति नहीं दे सकती। महात्मा बुद्ध ने कहा था "किसी बात को इसलिए मत मान लो कि वह किसी धर्मग्रन्थ में है या किसी बड़े आदमी ने कही है। अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करो।" यहीं पर हमें महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की बात याद आती है कि दो तरह के लोग होते हैं, एक अक्ल वाले, दूसरे नकल वाले। अक्ल वाले सभ्यता संस्कृति को आगे बढ़ाते हैं, नकल वाले दूसरों की बात दुहराते रहते हैं, एक ही जगह लाठी पीटते रहते हैं और वे यथास्थिति के पक्षधर बने रहते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि महात्मा बुद्ध और कालिदास से होते हुए आधुनिक युग में राहुल सांकृत्यायन तक समीक्षा और परीक्षा करने पर जोर देते हैं। समीक्षा और परीक्षा करने के लिए अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करना आवश्यक है। साहित्य के इतिहास में हम देखते हैं कि समाज और संस्कृति की, अपने समय के यथार्थ की, सबकी समीक्षा की जाती रही है। इसके बावजूद हर युग में, हर अवस्था में, हर दौर में साहित्य का भी स्वरूप बदलता रहा है। बदलाव की इस प्रक्रिया और उसके कारणों की खोज करने की जरूरत है।

हिन्दी साहित्य का जो पहला अध्याय खुलता है उसके अपने स्वरूप तथा उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि एवं परम्परा पर गौर करने से हमें ऐसा महसूस होता है कि हिन्दी साहित्य

का उद्भव पूर्ववर्त्ती साहित्य और उसकी परम्परा के विकल्प के रूप में हुआ। हिन्दी के आदिकालीन साहित्य का पूर्ववर्त्ती साहित्य तो मुख्यतः संस्कृत साहित्य है। यहाँ यह कह देना जरूरी है कि संस्कृत का साहित्य महान है। वेदों से लेकर रामायण, महाभारत और फिर कालिदास, भवभूति, भास, माघ, वाणभट्ट आदि महान लेखकों द्वारा रचित साहित्य संस्कृत में है। उसमें महान गाथाएँ हैं, विकट संघर्ष है, अद्भुत चरित्र हैं, व्यक्ति है, समाज है, राजा है, प्रजा है आदि-आदि। यह महान साहित्य आज तक लेखकों के सृजन का स्रोत बना हुआ है। लेकिन यह महान साहित्य मुख्यतः राजाओं और राज्यों के इर्द-गिर्द रचा गया है। जो सौन्दर्य और संवेदना इस महान साहित्य में है, उसका आधार राजन्य वर्ग और सम्भ्रान्त समाज है। कालिदास भी इससे मुक्त नहीं है। कालिदास को अपना अत्यन्त प्रिय कवि मानने वाले भगवतशरण उपाध्याय भी कहने को मजबूर हैं कि – "वे मुख्यतः समाज के धनी वर्ग का ही उल्लेख करते हैं, उनका चित्रण सर्वसाधारण की अवस्था का चित्रण नहीं कहा जा सकता, तथापि उनकी रचनाओं में एक व्यक्ति जो कुछ पढ़ता है, उससे सम्पन्नता तथा सुख सामग्री की प्रचुरता के प्रमाणों पर आश्चर्यान्वित हो जाता है।" (कालिदास का भारत) आगे चलकर अपभ्रंश के कवियों ने कविता को राजन्य वर्ग के आभामंडल से एक हद तक बाहर निकाला। इसमें बौद्ध-जैन आन्दोलनों से प्रभावित सिद्धों और नाथपंथियों का योगदान रहा है। इन्होंने अपभ्रंश में लिखा, जो उस समय की लोकभाषा था। इसे राहुलजी ने पुरानी हिन्दी कहा है। इस भाषा के बोलने वालों का मिजाज संस्कृत में लिखनेवालों से भिन्न था। मिजाज के फर्क से पता चल जाता है कि उनका जीवन-बोध, उनका अनुभव कोष भी संस्कृत के कवियों से भिन्न था। इन कवियों को सामाजिक उपेक्षा का शिकार होना पड़ा, इसीलिए उनका साहित्य ठीक ढंग से मिलता नहीं। राहुल 'हिन्दी काव्यधारा' की भूमिका में बताते हैं कि पुरानी हिन्दी के कवियों ने 'संस्कृत का बायकाट' किया, इसलिए उनकी भाषा में वे शब्द नहीं मिलते, जो बाद में हिन्दी में प्रचलित हुए। "हमारे यहाँ सांस्कृतिक और साहित्यिक, राजनीतिक और व्यापारिक प्रयोजन के लिए भाषा की आवश्यकता को बहुत पहले से माना जाता रहा है।" (राहुलजी, हिन्दी काव्यधारा की भूमिका, पृ. ८) यह जरूरत उनकी थी, जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी। इस जरूरत की पूर्ति अपभ्रंश ने की। राहुलजी का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है – "अपभ्रंश के कवियों का विस्मरण हमारे लिए हानि की वस्तु है। ये कवि हिन्दी काव्यधारा के प्रथम स्रष्टा थे। वे अश्वघोष, भास, कालिदास और वाण की सिर्फ जूठी पत्तलें नहीं चाटते रहे, बल्कि उन्होंने एक योग्य पुत्र की तरह हमारे काव्य क्षेत्र में नया सृजन किया है, नये चमत्कार, नये भाव पैदा किये। यह स्वयंभू आदि की कविताओं से अच्छी तरह मालूम हो जाएगा।" (उपर्युक्त, पृ. १३) वे आगे कहते हैं – "हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी और तुलसी के ये ही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे हैं।" (वही, पृ. १३) शुरू में राहुल की बातों को मानने में बहुत से लोगों को दिक्कत होती थी, लेकिन अब यह बात मानकर हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन भी हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वीकार करते हैं – "महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन रचनाओं की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। .... बौद्ध-गानों में भी जिस श्रेणी की पद्य रचना है, वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता

कि बंगला भाषा में उसका चिह ही नहीं मिलता, परन्तु वह अधिक लोकप्रिय बंगाल के बाहर ही हुई।" (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. ६) जिन दिनों हिन्दी साहित्य अपने पहले अध्याय के प्रारम्भिक पन्ने खोल रहा था, उन दिनों हिन्दी-क्षेत्र की सांस्कृतिक विशिष्टता में यह बात शामिल थी कि बौद्ध मत के हीनयान सम्प्रदाय का आम जनता पर अच्छा खासा प्रभाव था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में इस बात का जिक्र किया है। सामान्य जनगण की चेतना पर बौद्ध संन्यासियों का, उनकी पूजा-पद्धति और सामाजिक चिन्तन का गहरा प्रभाव था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो यहाँ तक कहा है कि – "उस युग के दर्शन-ग्रन्थों, काव्यों, नाटकों आदि से स्पष्ट जान पड़ता है कि ईसा की पहली सहस्राब्दी में वह इन प्रान्तों में एकदम लुप्त नहीं हो गया था। इधर हाल में जो सब प्रमाण संग्रहीत किये जा सके हैं उनसे इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमण के आरम्भिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गयी थी। ...... इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. १५) सरहपा, कण्हपा, सबरिपा, पुष्पदन्त, स्वयंभू आदि अपभ्रंश कवियों की रचनाओं ने अपने समय की इस लोकभाषा में लौकिक अनुभवों को रचना का विषय बनाकर नयी परम्परा बनायी। सरहपा अपने एक पद में कहते हैं – "धर्म के महासुख में वैसे ही प्रवेश करो, जैसे नमक पानी में घुल जाता है। मन्त्र से मन की शान्ति नहीं होती। तरुफल देखकर कोई अघाता है क्या? वैद्य को देखकर रोग भागता है क्या?" जीवन को वे भौतिक क्रिया से अभिन्न मानते हैं। फल देखने से नहीं, खाने से पेट भरता है। वैद्य के दर्शन से नहीं, औषधि के सेवन से रोग भागता है। राजा भोज द्वारा सम्पादित सरस्वती कण्ठाभरण में एक पद उद्धृत है, जिसमें एक मजदूर की पत्नी रोते हुए कहती है – "मेरे आदमी को लोग सिर पकड़ कर कुत्ते की तरह सरे आम पीट रहे हैं और राजा के कर्मचारी खड़े देख रहे हैं। मैं किसके आगे रोऊँ?" सामाजिक जीवन की अन्यायपूर्ण अराजकता, जनता के कष्ट के प्रति उदासीन राजनीति, आदमी और कुत्ते में फर्क का मिट जाना, कर्मचारियों की कर्तव्यहीनता आदि समाज में स्थापित संस्कृति को व्यक्त करते हैं, तो कवि की वाणी के माध्यम से मजदूर की पत्नी का रोना या यह पूछना कि मैं किसके आगे रोऊँ, स्थापित संस्कृति के विरुद्ध उठती हुई चेतना की अभिव्यक्ति है, जिससे एक नयी संस्कृति की आकांक्षा झाँकती हुई दिखायी पड़ती है। यही संस्कृति समाज के पीड़ित जनों की सांस्कृतिक विरासत है। स्वयंभू के रामायण में अग्नि-परीक्षा के समय सीता पुरुष की निर्ममता और हीनता को फटकारते हुए राम को चुनौती देती है – "तुम देखो और विश्वस्त हो लो, यदि तुम मुझे जलाने में समर्थ हो तो जला कर देखो।" (हिन्दी काव्य धारा, पृ. ४१) स्वयंभू की सीता के व्यक्तित्व में यह जागरण और ओज, आधुनिक युग के नारी-जागरण और स्त्री-विमर्श के बिना आया। कहाँ से आया? क्या यह तत्कालीन समाज के उथल-पुथल से प्रेरित नहीं है? इस उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में ही उस समय का कवि लिख सकता था –

जाननहारा जानिया बनिया तेरी बान।
बिन छाने लोहू पिवै पानी पीवै छान।।

इस कथन में जो सांस्कृतिक द्वैत है और उस पर जो तीखा व्यंग्य है, वह हिन्दी-कविता के भविष्य को शक्ति देता है।

मध्यकाल के भक्ति-आन्दोलन और उसके काव्य का सम्बन्ध नाथ-सिद्ध कवियों से प्राप्त विरासत से है। मध्यकाल के भक्ति-आन्दोलन से पहले दक्षिण में जो भक्ति-आन्दोलन फैला था, उससे भी उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध बैठता है। दोनों में यह समानता है कि वे समाज के पीड़ित जनों के जागरण और जीवन-व्यथा को व्यक्त करते हैं। ऐतिहासिक रूप से सच यह है कि नाथों और सिद्धों से बहुत पहले, कालिदास से भी पहले भारतीय हिन्दू समाज में व्याप्त जातिगत विषमता और अन्याय के खिलाफ आवाज उठायी जाती रही। अश्वघोष की छोटी सी पुस्तक 'वज्रसूची' मे व्यक्त विचार तो सचमुच में वज्रसूची बन कर जाति-प्रथा के ऊँच-नीच भेद-भाव को बेधने की कोशिश है। यह संघर्ष सिद्ध कवि सरहपा से होते हुए कबीर, रैदास, दादू, नामदेव, नानक आदि तक पहुँचा है। जायसी, सूर, मीरा और तुलसीदास भी संघर्ष की इस परम्परा से गहरे तौर पर प्रभावित हुए हैं। भक्तिकाव्य में मेरी दृष्टि में सबसे अधिक आकर्षक बात यह है कि भगवान के प्रति भक्त के समर्पण के बावजूद भक्तिभावना आम जनगण को सम्बोधित है। इस सम्बोधन का उद्देश्य है लोगों के भीतर सोयी हुई भक्ति को जगाना, उनके आत्मविश्वास को मजबूत करना। दूसरी बात है ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता को सार्थकता की कसौटी के रूप में सब के प्रति समानता का नजरिया रखना, खास कर गरीबों के प्रति। तुलसीदास जैसे दास्य भाव के सगुण साधक भी कहते हैं कि बड़े गरीबनवाज कहलाते हो, तो गरीबनवाजी करके दिखाओ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है "निर्गुण मत के भक्त हों या सगुण मत के, भगवान् के साथ उन्होंने कोई-न-कोई अपना सम्बन्ध पाया है।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ८८) मेरे ध्यान में इसका अर्थ यह आता है कि वे भगवान् से यह अपेक्षा करते हैं कि वे मनुष्य की मदद करने, उसके कष्टों को दूर करने के लिए उसी सम्बन्ध के भाव से आयें, अर्थात् किसी के स्वामी बनकर आयें, तो किसी के सखा बनकर, किसी के पति बनकर आयें तो किसी के पिता बनकर, किसी के प्रेमी बनकर आयें तो किसी की प्रेमिका बनकर। फिर तुलसीदास की ही बात याद आती है – "मोहि-तोहि नाते अनेक मानिए जो भावै।" सभी भक्तकवि ईश्वर को मूलतः अदृश्य ही मानते हैं, फिर भी वे यह उम्मीद करते हैं कि भक्त की पुकार सुनकर वे नातेदार की तरह दौड़ आयें। इस तरह की उम्मीद या अपेक्षा के पीछे एक प्रकार की सांस्कृतिक चेतना काम करती रहती है, जिसकी मूल भावना है मनुष्यत्व की, मानवीय समानता की। सगुण भक्त तो ईश्वर को अवतार लेकर यानी सुदूर अनन्त से नीचे उतर कर मनुष्य रूप में उसे लाते ही हैं। निर्गुण भक्त भी चाहते हैं कि वह भीतर छिपा न रहे, वह भक्त की रक्षा के लिए प्रकट हो। दादू कहते हैं – "अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवै दूरि" – हे अन्तर्यामी तुम छिपे रहोगे, तो हम कैसे जीयेंगे? यह है भक्ति भावना के भीतर की मनुष्यता। इस भक्तिकाव्य में जो मनुष्य है, वह इस दुनिया और जगत् को क्षणभंगुर मानने के बावजूद प्राचीन अर्थ में पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता। प्राचीन पुरुषार्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं, लेकिन भक्तिकाव्य का मनुष्य काम और मोक्ष को पसंद नहीं करता। धर्म और अर्थ को भी वह अपने समय के मुताबिक स्वीकार करता है। मध्यकाल में ही चंडीदास

ने कहा कि सबसे ऊपर मनुष्य है, उससे ऊपर कोई नहीं। 'सबार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाइ।'

मनुष्य की मर्यादा या प्रतिष्ठा के लिए समानता आवश्यक है। समानता का सीधा विरोधी है विषमता—चाहे जैसी विषमता हो—धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक आदि। जन्म पर आधारित विषमता को कबीर आदि सन्त कवियों ने पूरी ताकत से चुनौती दी है। सब तो एक ही तरह से पैदा होते हैं, फिर यह भेद-भाव और विषमता क्यों? वे अच्छी तरह समझते हैं कि भेद-भाव और विषमता मनुष्यकृत है, अतः उसे मिटाया जा सकता है। कबीर जिस समाज में रह रहे थे, उसकी संस्कृति उन्हें मान्य नहीं; क्योंकि वह मानवीय नहीं है। वे कहते हैं –

सतवन्ती को मिले गजी नहीं
वेस्या पहिरै खासा रे।

सामाजिक अन्तर्विरोध में बसी सांस्कृतिक कुरूपता का इससे अच्छा उदाहरण और क्या होगा? यों यह उदाहरण भी कम पीड़ादायक नहीं है – "गोरस लै घर-घर फिरै मदिरा बैठ बिकाय।" जिस समाज में वेश्या और मदिरा का मान ज्यादा हो, उस समाज से सन्तकवि सहमत नहीं होते, उसका विकल्प चाहते हैं। कबीर की पीड़ा यह है कि – 'साँची कहो तो मारन को धावै, झूठौ जग पतियावै।' कबीर को इस बात की भी पीड़ा है कि लोगों के जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है, 'सबहि भुलाना पेट के धंधा।' कबीर सामन्ती समाज की संस्कृति को बेपर्द करने के साथ ही अपनी एक सांस्कृतिक परिकल्पना भी रखते हैं, जिसमें वे मानवीय गुणों और शक्तियों की प्रतिष्ठा चाहते हैं। तुलसीदास भी राम को अपना आराध्य और नायक इसलिए बनाते हैं कि उन्हें दुष्टदलन के युद्ध की अगुआई करने वाले नायक की खोज थी। इतना ही नहीं उन्हें पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन में आदर्श का प्रतिमान कायम करने वाले सांस्कृतिक नायक की जरूरत थी मध्यकाल में। यही कारण है कि 'मानस' में न शम्बूक वध है और न सीता वनवास ही। सन्त-असन्त सबकी वन्दना करने वाले तुलसीदास भी दुर्जन और सज्जन की पहिचान इस तरह बताते हैं – 'मिलत एक दारुण दुख देही, बिछुरत एक प्राण हरि लेही'। तुलसीदास के बारे में कहा जाता है कि वे वर्णाश्रम के समर्थक थे। मानस में अनेक स्थलों पर ऐसे विचार व्यक्त किये गये हैं, जो उपर्युक्त धारणा को पुष्ट करते हैं। लेकिन मानस की काव्य-संवेदना राम की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से वर्णाश्रम-व्यवस्था को खण्डित करती है। यह भक्ति आन्दोलन में निर्गुण सन्तों की सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव है। मीराबाई, रैदास को अपना गुरु बना लेती हैं, यह उसी आन्दोलन का सांस्कृतिक प्रभाव है। लेकिन यह महान् आन्दोलन भी सफल नहीं हो पाया, क्योंकि उद्देश्य के अनुकूल विचारधारा उसे नहीं मिल पायी। 'मिथ्यापन' की विश्व-दृष्टि से यदि सन्तकवि मुक्त हो पाते, तो अवश्य उन्हें अपने संघर्ष में सफलता मिलती।

संस्कृति और विरासत के जिस अर्थ में हम अपनी सांस्कृतिक विरासत की परम्परा को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं, उस दृष्टि से रीतिकाव्य की कोई विरासत हम तक नहीं

पहुँचती। रीतिकाव्य अन्तर्वस्तु की दृष्टि से मुख्यतः कवियों के आश्रयदाताओं की रुचियों की अभिव्यक्ति है। एकाध अपवादों को छोड़कर समस्त रीतिकाव्य जीवन और समाज की धड़कन को व्यक्त करने के रचनात्मक दायित्व से मुक्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी रीतिकाव्य को "संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास की संक्षिप्त उद्धरणी" कहा है। रीतिकाव्य हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास में एक बड़े क्षेपक की तरह मालूम पड़ता है। यों रीतिकाव्य में एक संस्कृति है और वह सामन्ती संस्कृति है, भोग-विलास की संस्कृति है। इस प्रकार यह हमारे लिए पिछड़े हुए समाज की संस्कृति है, जिसके वारिस हम नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि जिनकी दृष्टि भविष्य की ओर है, मनुष्यता की ओर है, उनके लिए रीतिकाव्य में विरासत की तरह ग्रहण करने योग्य कुछ नहीं है।

हम आधुनिक युग के नागरिक हैं। आधुनिक युग तब शुरू होता है, जब समाज में और मनुष्य के जीवन में नयी-नयी बातें घटित होने लगीं, ऐसी बातें जो समाज को मध्यकालीनता से अलग कर रही थीं। यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया है, जो मध्यकालीनता से समाज को अलग करती है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की पहचान मुख्यतः तीन बातों से होती है । १. इतिहास के निर्माण में और समाज के विकास में जनता की भूमिका, २. वैज्ञानिक दृष्टिकोण और ३. अपनी बुद्धि का इस्तेमाल। आधुनिक युग में होकर भी जो उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों को नहीं अपनाता है, वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह आधुनिक नहीं कहा जायेगा, वह मध्यकालीन संस्कारों का व्यक्ति या समाज समझा जायेगा। आवश्यकता है आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों की पहचान करने की। भारत में आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों का उदय जब हुआ, तब वह ब्रिटिश साम्राज्य का गुलाम था। ब्रिटिश साम्राज्य का स्वार्थ चाहता था और कोशिश भी कर रहा था कि भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आगे न बढ़े। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य एक महान शक्ति होते हुए भी समाज और जनता के बीच सारी प्रवृत्तियों को अपने वश में रखने की सामर्थ्य उसमें भी नहीं थी। भौतिक शक्तियाँ सदा के लिए किसी शक्ति के कब्जे में नहीं रहती। इसलिए भारत में भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ी, भले ही धीमी गति से, विपरीत परिस्थिति में अस्वाभाविक ढंग से। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते भारतीय जनता में अँग्रेजी शिक्षा और शैक्षिक संस्थाओं तथा तरह-तरह के प्रशासनिक प्रतिष्ठानों के कारण एक नये मध्यवर्ग का उदय हुआ। भारत में अंग्रेजों ने जो लूट मचायी, उसके कारण गरीबी और भुखमरी बढ़ी, अकाल होने लगे। जमीन और जमींदारी की नयी व्यवस्था के कारण लोगों को पहली बार महसूस हुआ कि उनके जीवन में ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप कर रही है। इन सबसे एक नये प्रकार का असन्तोष आम जनगण में पैदा हुआ। अँग्रेजी शिक्षा ने अँग्रेजियत की प्रवृत्ति जरूर पैदा की, लेकिन यह भी सच है पश्चिम के सम्पर्क से जनतान्त्रिक भावना पैदा हुई। शिक्षा में विज्ञान के शामिल होने से सोच-समझ में नयापन आया, जिसका टकराव वैदिक और औपनिषदिक संस्कारों वाली मानसिकता से होने लगा। उद्योग धन्धों की स्थापना से, रेल आदि के आगमन से पूँजीपति वर्ग, मजदूर वर्ग आदि नये समुदाय पैदा हुए। इन सबने भारतीय समाज में स्थापित जात-पाँत तथा अन्य अनेक रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को चुनौती दी। इसी पृष्ठभूमि में आम जनता के बीच नयी चेतना आँखें खोलने लगी। इस चेतना की अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई। एक तरफ

नवजागरण की प्रवृत्ति विकसित हुई, तो दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की चेतना पैदा हुई। नवजगारण और राष्ट्रीयता, दोनों की प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के अगल-बगल सहयोगात्मक ढंग से विकसित हो रही थीं। इन दोनों ने ही भारत की और हिन्दी क्षेत्र की भी सांस्कृतिक परम्परा में एक नये अध्याय का प्रारम्भ किया। इस नये अध्याय की प्रेरक शक्ति आम जनता थी, जन-जागरण और जन-कार्रवाई इस प्रेरक शक्ति के अभिव्यक्त रूप थे। जनता को भक्ति-आन्दोलन ने भी जगाया, प्रेरित किया, लेकिन वे भक्ति के जरिये संसार से मोक्ष की कामना कर रहे थे। आधुनिक युग के जागरण के जरिये जीवन के कष्टों से मुक्ति के लिए नये रास्ते की तलाश की जाने लगी। इस तलाश का स्वाभाविक सम्बन्ध श्रमण संस्कृति की परम्परा, नाथ-सिद्ध कवियों की चेतना, भक्ति-आन्दोलन की जन-चेतना से कायम हो जाता है। परम्परा का अर्थ पुरानी बातों का दुहराया जाना हरगिज नहीं है। परम्परा यानी एक के बाद दूसरे का एक सिलसिले से होते जाना, होते रहना। साहित्य के सन्दर्भ में यों कह सकते हैं कि यथार्थ के नये धरातल पर मानवीय संवेदना का विकसित होना, यथार्थ के द्वन्द्व में मानवीय पुरुषार्थ के पक्ष में खड़ा होना, ताकि मनुष्य के लिए नये भविष्य का निर्माण किया जा सके। परम्परा का ठीक अर्थ तब समझ में आता है जब हम रूढ़ि को समझने की कोशिश करते हैं। परम्परा हमें सही अर्थ में अतीत से भविष्य की ओर ले जाती है और रूढ़ि भविष्य की ओर बढ़ने से रोकने के लिए हमारे पैरों को छान देती है। भारतेन्दु ने जब भारत दुर्दशा से लड़ने के लिए 'भारत-भाई' की खोज की या भारत-भाइयों को पुकारा तो साहित्य के पाठकों को एक नयेपन का अहसास हुआ। प्रेमचन्द जब सोजे-वतन (वतन का दर्द) महसूस कर कहानियाँ या उपन्यास लिखने लगते हैं, तो भारतेन्दु की परम्परा आगे बढ़ती है। आधुनिक साहित्य में संस्कृति की इस परम्परा के विकास का मतलब है उस मनुष्य की भूमिका को पहचानना जो यथास्थिति को अस्वीकार कर उसे बदलने का संघर्ष करता है। ऐसा नहीं है कि पूरा आधुनिक साहित्य इसी मनुष्य की चेतना और संवेदना की अभिव्यक्ति है। आधुनिक चेतना और राष्ट्रीय चेतना के सामाजिक आधार में भी विविधता है, अतः उसकी काव्य-संवेदना में भी विविधता है। स्वयं राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हिन्दी-कविता में कई रूपों में हुई है। उसकी अभिव्यक्ति का एक रूप भारतेन्दु के बाद मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, दिनकर आदि में व्यक्त हुआ है। इनमें भी भावों और स्वरों में विविधता है, लेकिन एक समानता आम तौर से है कि उनके काव्य-नायकों में सामाजिकता और समानता का भाव है। वे साहित्य की सामाजिक और मानवीय भूमिका को कबूल करते हैं और न्याय के लिए संघर्षशीलता को पात्रों की चारित्रिक विशेषता बनाते हैं। जाहिर है कि वे मनुष्य के प्रति अन्याय का विरोध करते हैं और समानता को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

राष्ट्रीय चेतना और नवजागरण ा सम्मिलित स्वर छायावादी काव्य में स्वच्छन्दता के रूप में व्यक्त हुआ है। यह स्वच्छन्दता सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश करती है, लेकिन स्वच्छन्दता का स्वरूप आम तौर े वैयक्तिक है। इसलिए छायावादी काव्य में मनुष्य की संघर्षशीलता सीमित हो जाती है। यही कारण है कि हिन्दी कविता में सांस्कृतिक विरासत की जो धारा मानवीय पुरुषार्थ और सामूहि .ता से बनती है, उससे छायावादी काव्यचेतना का

स्वाभाविक मेल नहीं है। संस्कृति की धारा वास्तव में जिस आम जनगण की भूमिका से बनती है, उससे छायावाद का गहरा मेल नहीं है। उसमें भी जब हम रहस्यात्मक प्रवृत्ति को देखते हैं, तो लगता है कि छायावादी कविता के इस रूप से तो जीवन के यथार्थ का क्षीण सम्बन्ध है और सामान्यतः इस कविता के भावों का सम्प्रेषण हो नहीं पाता। यही कारण है कि पन्तजी प्रगतिशील कविता के उदय के साथ युगान्त की घोषणा करते हैं, महादेवी आगे चलकर कविता लिखना प्रायः छोड़ देती हैं। जयशंकर प्रसाद यथार्थ की ओर मानवीय चिन्ता के साथ बढ़े थे, तब तक उनके जीवन का असामयिक अवसान हो गया। कामायनी में मानव-सभ्यता के विकास की महान चिन्ता के पीछे सांस्कृतिक चेतना भी है। प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना इड़ा और उसके जनगण की संगति में है। एक निराला सबसे अधिक अविचलित रहे; क्योंकि शुरू से ही उनकी काव्य-चेतना समाज के उस तबके से जुड़ी रही, जिसके उद्यम से मानवीय और सामाजिक संस्कृति का विकास होता है। बादल-राग के किसान, भिक्षुक, वह तोड़ती पत्थर की मजदूरिन, 'सरोज-स्मृति' के स्वयं कवि निराला और 'राम की शक्ति पूजा' के राम के संघर्ष के पीछे की सांस्कृतिक चेतना कबीर आदि के संघर्ष की विरासत को स्वीकार करती दिखती है। और फिर आगे प्रगतिशील कविता के विकास से भी वह चेतना स्वभावतः जुड़ती है। निराला-काव्य का नायक, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध आदि की कविताओं का नायकत्व करने वाले मनुष्य के जुझारूपन का स्वभाविक पूर्ववर्त्ती है। यह निराला ही हैं जो मनुष्य की मुक्ति और कविता की मुक्ति को एक ही संगति में रखते हैं। मनुष्य और कविता के संघर्ष की अगली अवस्था प्रगतिशील साहित्य में व्यक्त हुई है। प्रगतिशील साहित्य के बारे में बात करते हुए प्रेमचन्द के कथा साहित्य पर गौर करना आवश्यक है। प्रेमचन्द ने आम तौर से अपनी कहानियों और उपन्यासों में समाज के कमजोर तबके के पात्रों को कथा-नायक बनाया। ऐसे पात्रों की भूमिका को समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक प्रक्रिया को समझना जरूरी है। प्रेमचन्द के मुख्य पात्र हमें महसूस कराते हैं कि मानव-मूल्य और मानवीय पुरुषार्थ वहीं हैं, जहाँ अपनी मेहनत से जीने वाले लोग हैं। परोपजीवी लोग मानव-मूल्य को सुरक्षित नहीं रख सकते। प्रेमचन्द के कथाप्रसंग यह भी दिखाते हैं कि मनुष्य जीवन की समस्याओं का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से होता है। इसलिए समस्याओं के समाधान का सम्बन्ध वैकल्पिक व्यवस्था से होगा। प्रेमचन्द की इस कला ने सौन्दर्य-दृष्टि को बदलने की आवश्यकता पैदा की। उसने संस्कृत काव्यशास्त्र की सौन्दर्य- दृष्टि को अप्रासंगिक बना दिया। प्रेमचन्द की यह परम्परा विकसित होती है यशपाल, अमृतलाल नागर, रेणु, भीष्म साहनी, अमरकान्त आदि कथाकारों और नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, मुक्तिबोध आदि कवियों में। इस दौर में हम एक तरफ लिजलिजा और चिपचिपा मनुष्य पाते हैं तो दूसरी तरफ हर मुसीबत और संकट को चुनौती देने वाला मनुष्य देखते हैं। एक तरफ ऐसा मनुष्य मिलता है जो चारों तरफ बर्फ देखकर घर में बन्द होकर पड़ा रहता है और बर्फ पिघलने का इन्तजार करता है, दूसरी तरफ ऐसा आदमी मिलता है, जो आततायियों का मुकाबला करते हुए लाठी खाता है, ऐसा आदमी मिलता है, जो धारा को मोड़ता है, चट्टान को तोड़ता है और सनसनाती हुई गोलियों के बीच भी निकल पड़ता है और शासन की बन्दूक उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती है। विचारणीय है कि अमानुषिक समाज

को बदलने के लिए किस तरह का आदमी आवश्यक और प्रासंगिक है? इसी से सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का पता चलता है। इस मनुष्य की परम्परा लगातार आगे भी चलती रहती है। यह काव्य-चेतना केदारनाथ सिंह, धूमिल से होते हुए आगे बढ़ रही है। इस दौर के कथाकारों ने भी अपने सामने उपस्थित चुनौतियों का सामना किया है।

वर्तमान दौर में हमारी सांस्कृतिक विरासत और परम्परा को भूमंडलीकरण, उदारीकरण, विनिवेशीकरण आदि की आर्थिक प्रक्रिया को व्यक्त करने वाली बाजार की संस्कृति या उपभोक्ता संस्कृति ने दूषित कर दिया है। इसने मनुष्य की पहचान को बाजार पर आधारित कर दिया है। लेखकों और कवियों ने उपभोक्ता संस्कृति की अमानुषिकता को बेपर्द करके मनुष्यता को बचाये रखने का रचनात्मक उपक्रम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है। इस उपभोक्ता संस्कृति और बाजार की शक्तियों ने अपने बचाव के लिए प्राचीन और मध्यकाल की रूढ़िवादी और अधोगामी शक्तियों को पुनर्जीवित करने का घातक प्रयत्न किया है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा वास्तव में क्रौंच-वध प्रसंग से शुरू होती है। काम-मोहित क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को मार देने वाले बहेलिये को वाल्मीकि ने शाप दिया और क्रौंच पक्षी को संवेदना। यही परम्परा चली आ रही है। कवियों और अन्य रचनाकारों के बीच। साहित्य मात्र आम तौर से सत्ता का विकल्प होता है। निर्ममता और संवेदनशून्यता का पक्ष साहित्य का पक्ष हो नहीं सकता।

इस महान परम्परा को हिन्दी क्षेत्र की विशालता और हिन्दी की सहजता और समृद्ध करती है। बांग्ला, ओड़िया, तेलुगु, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि उसकी पड़ोसी भाषाएँ हैं, उर्दू तो अन्तेवासी ही है। विशाल हिन्दी क्षेत्र की लोकभाषाएँ, जनभाषाएँ हिन्दी के सूत्र से आपस में जुड़ती हैं। हिन्दी को इसका लाभ यह होता रहा है कि उसमें जीवन्तता आती रहती है। विभिन्न स्रोतों से हिन्दी के भंडार में संस्कृति के जीवन्त तत्त्व आते रहते हैं। इतने प्रकार के स्रोतों से लगातार जीवन्त और समृद्ध होती हिन्दी संस्कृति आज की परिस्थिति में अपनी नयी भूमिका अदा कर रही है और सांस्कृतिक एकजुटता का माध्यम बन रही है। आज जब मनुष्य को भवितव्यहीन रास्ते पर खींच ले जाने की हरकतें की जा रही हैं, जब उसे संवेदनशून्य और पराजयवादी बनाया जा रहा है, तब साहित्य के माध्यम से मिली महान सांस्कृतिक विरासत ही उसकी चेतना को जीवन्त बनाये हुए है, जीवन को आगे ले जाने वाले सपनों को जिन्दा रखे हुए है और जीने की प्रेरणा दे रही है। आज की पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़ी शक्तियाँ अपने प्रचार और संचार-माध्यमों से साहित्य को इसीलिए तो बाहर किये हुए हैं। वे साहित्य की शक्ति को पहचानती हैं, इसलिए उससे परहेज करती हैं। इसी साहित्य की शक्ति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। सही माने में साहित्य में चित्रित यथार्थ जीवन के प्रत्यक्ष यथार्थ से कई गुना अधिक ताकतवर होता है। हम खुद जब साहित्य को लेकर आगे बढ़ेंगे तो अवश्य साहित्य की शक्ति का अहसास होगा। सांस्कृतिक विरासत की व्याख्या के प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि संस्कृति के विकास की पृष्ठभूमि में तो स्थानीय सामाजिक विशिष्टताएँ रहती हैं, लेकिन मूल्य और संवेदना की दृष्टि से सांस्कृतिक विरासत पूरी मानवता की होती है, पूरे विश्व की होती है।

विसंरचना : दर्शन बनाम साहित्य

– पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

बीसवीं शती के अन्तिम चरण के आलोचनात्मक और सांस्कृतिक विमर्श में 'डी-कंस्ट्रक्शन' एक दीप्त बिन्दु की तरह उभरा। इस शती के चिन्तन में यह एक कठिन, पर प्रभावी सैद्धान्तिक लेखन के समुच्चय का और एक व्यापक आन्दोलन का ऐसा नाम बना, जिसने पूर्व धारणाओं, पूर्व मान्यताओं और परिकल्पनाओं तथा शताब्दियों से चली आ रही दार्शनिक, साहित्यिक और आलोचनात्मक परम्पराओं पर सवालिया निशान लगा दिये।

विसंरचना (डी-कंस्ट्रक्शन) फ्रांसीसी दर्शनिक जॉक देरिदा के चिन्तन से परिणामित दार्शनिक और साहित्यिक विश्लेषण की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो बुनियादी दार्शनिक कोटियों या अवधारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगाती है। यह अपने-आप में कोई सरल अवधारणा नहीं है। देरिदा विसंरचना को एक निकाय, एक प्रविधि, एक दर्शन, एक व्यवहार या एक प्रथा के रूप में देखता और इस पर बल देता है। यहाँ किसी भी पाठ में पाठक का अपना तर्क उस पूर्वमान्यता को काट देता है, जो अब तक विश्वसनीय बनी हुई थी।

देरिदा ने विसंरचना के मूल फ्रांसीसी डी-कंस्ट्रक्शन शब्द को मार्टिन हाईडेगर (Martin Heidegger) के Abbau और Destruction पद के फ्रांसीसी रूपान्तर के बतौर आकस्मिक रूप में प्रस्तुत किया था। स्मरणीय है कि यह हाईडेगर का दार्शनिक लेखन था, जो रचनाकार के नियन्त्रण से बाहर था और एक व्यापक बौद्धिक प्रक्रिया या आन्दोलन को निर्दिष्ट कर रहा था। पर देरिदा ने 'डी-कंस्ट्रक्शन' का प्रयोग अपनी लेखन-सक्रियता को वर्णित करने वाले किसी नारे के बतौर नहीं किया, बल्कि इसे रेखांकित करने वाले और उछालने वाले दूसरे थे, जो यह दिखाना चाहते थे कि वहाँ उस समय क्या किया जा रहा था।

सत्तर के दशक में दार्शनिक और साहित्यिक लेखन के क्षेत्र में देरिदा तथा उसके अन्य अनुयायियों के द्वारा विश्लेषण करने हेतु इसका प्रयोग किया गया। अस्सी के दशक में आकर यह मानविकी, समाजविज्ञान, विधिविज्ञान, मनोविश्लेषण, स्थापत्य, धर्म-शास्त्र, राजनीतिक सिद्धान्त, स्त्री-विमर्श तथा लम्पट स्त्री-समयौनता के मुक्त वैविध्यपूर्ण क्षेत्रों में एक उग्र, पर महान् सैद्धान्तिक कार्य को निर्दिष्ट करने के लिए उभरा। इन सभी उत्साहपूर्ण कार्यों ने जिसका साझा किया, वह परम्परित अवधारणाओं के विलोम का आलोचनात्मक पद था। ये अवधारणात्मक विरोध वे थे, जो अपने ज्ञानानुशासन में पहले पूरी प्रभुता से स्थापित मान्यताओं के विरोध में आये थे। ध्यान दें, तो अपने लोकप्रिय व्यवहार में यह पद आलोचनात्मक विघटन अथवा किये को अनकिया करने को निर्दिष्ट करने के बतौर सामने आया और बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के चिन्तन में विवादी रूप में ही सही, पर सम्यक तौर पर स्थापित हो गया।

यही नहीं, 'डी-कंस्ट्रक्शन' उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद के पर्याय के रूप में भी व्यवहृत हुआ। यहाँ यह नाशवाद, असार सन्देहवाद का अर्थ देने लगा, जो किसी परिणाम को सोचे बिना पाठ को खोलता और बिगाड़ देता है। 'डी-कंस्ट्रक्शन' के आलोचकों ने इस पर दकियानूसी, रूढ़िवादी शब्द-क्रीड़ा होने, पाठ में नगण्य और हाशिये पर आने वाले साहित्य-शास्त्रीय अभिलक्षणों को जोरदार मान्यता देने और उसे प्रकाशोद्भासित करने की जगह धुँधला कर देने का आरोप लगाया है। 'डी-कंस्ट्रक्शन' प्राधिकारियों, निश्चितताओं और मूलाधारों को शून्यवाद के रूप में खारिज़ कर देता है। यह सभ्यता के मूलाधार को भी जोखिम में डालता और धमकाता है और जिसके लिए ऐसी कोई भी चीज़ चली जाती है।

'डी-कंस्ट्रक्शन' के प्रतिपक्षियों, विरोधियों ने स्थापित मूल्यों के साथ इसकी समीक्षा को अनैतिक शून्यवाद से जोड़ने की बात की। ऐसा उन्होंने समाजविज्ञान और मानविकी के क्षेत्र में वैज्ञानिकों के दावे और उनकी महत्त्वाकांक्षा की समीक्षा के बतौर किया। पर 'डी-कंस्ट्रक्शन' ने आचार-शास्त्रीय प्रतिबिम्बन के, विशेष तौर पर आचार-शास्त्र और न्याय की संभावना की स्थितियों के बारे में उत्साही और जोशीले तत्त्व को समाविष्ट किया।

'डी-कंस्ट्रक्शन' पद को देरिदा के द्वारा साठ के दशक के उत्तरार्द्ध और सत्तर के दशक के आरम्भ में उसकी प्रकाशित प्रभावी पुस्तकों की एक श्रृंखला के द्वारा प्रवर्तित किया गया, जो एक स्मरणीय हिल्लोल के रूप में सामने आया...स्पीच एंड फेनोमिना, Off Grammatology, and writing and difference (1967), Margins of Philosophy, Dissemination and Positions (1972)। देरिदा की इन कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद १९७३ से १९८२ के बीच सामने आया। इन पुस्तकों में दार्शनिक परम्पराओं की महत्त्वपूर्ण कृतियों का वाचन समाहित था, जिनमें हसर्ल, सॅस्यूर, फ्रायड, लेवीस्ट्रॉस, लेविनॉस, बटैले, फूको, प्लेटी, मलॉर्मे, हाईडेगर और हीगेल तक समाविष्ट थे। वास्तविकता यह है कि 'डी-कंस्ट्रक्शन' संरचनावादी आन्दोलन के सन्दर्भ में ही उभरा, जिसने मानवीय व्यवहार और उसके उत्पादन के विश्लेषण के लिए भाषाविज्ञान को प्रतिमान के बतौर ग्रहण किया। यहाँ केवल साँचों और ढाँचों की ही तलाश नहीं की गयी, बल्कि उन नियमों अथवा परम्पराओं की अन्तर्हित व्यवस्थाओं पर भी विचार किया गया, जो अर्थ को सम्भव बनाती हैं। यहाँ यह मान्यता प्रचलित थी कि जहाँ कहीं भी अर्थ है, वहाँ व्यवस्था है और यह व्यवस्था संरचनावादी स्थितियों को पहचानने की चेष्टा करती है।

किसी भी संरचना को खोलने के लिए यह समझने की जरूरत पड़ती है कि वह संरचना कैसे संरचित हुई है। पर इसे जानते हुए भी विश्लेषक किसी निष्णात की स्थिति से इस दायित्व को ग्रहण नहीं करता या कि इसे अलगाने की दृष्टि से वह ऐसा नहीं कर पाता है, बल्कि यह सब कुछ वह अनिवार्यतः तात्पर्य-ग्रहण या जटिलता की दृष्टि से करता है, जिससे कि संरचना को खोलने का कर्म उस कृति को समझने की प्रक्रिया का भाग बन जाये। वे उस क्षेत्र को उलट दें, जिसके विश्लेषण का वे अभिप्राय रखते हैं।

'डी-कंस्ट्रक्शन' दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में उभरता और अपना महत्त्व रखता है। यदि शुद्ध दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में न भी हो, तो भी; क्योंकि बहुतेरे दार्शनिकों ने देरिदा की इस परियोजना (प्रोजेक्ट) को दर्शन-शास्त्र के अपने कार्य में शामिल करने का विरोध किया है। पर एक दार्शनिक के रूप में प्रशिक्षित देरिदा ने यहाँ क्लासिकल दार्शनिक सिद्धान्त के पाठों को पढ़ा है। उसने प्लेटो, कांट, हीगेल, हसर्ल, हाईडेगर को पढ़ा है। पर लेखन की समस्या के द्वारा इस सिद्धान्त में देरिदा का मार्ग उसके काम को एक गैर-परम्परावादी और अशास्त्रीय भूमिका प्रदान करता है। देरिदा के लिए दर्शन लेखन न होकर सत्य, तर्क और चिन्तन के रूप में मान्य है। यह इसे साहित्य से भी जोड़ता है। यह एक ऐसा परिमंडल या क्षेत्र है, जहाँ लेखन का अध्ययन लेखन के रूप में किया जाता है। वह दर्शन-शास्त्र की साहित्यिकता को, जिसमें उसके स्वयं का दार्शनिक लेखन समाविष्ट है और साहित्य की दार्शनिक विशेषता को सिद्ध करने के क्रम में 'डी-कंस्ट्रक्शन' द्वारा साहित्यिक और दार्शनिक के बीच कुछ निश्चित अन्तर का समर्थन करता है। देरिदा डी-मान और दूसरे विसंरचनावादी लेखकों का सामना करता है, जिनकी कृतियों को साहित्य और दर्शन में साहित्य भी माना जा सकता है और दर्शन भी। इस प्रकार वे दोनों ही ऐसे अन्तर को उलझा देते हैं, जिसमें उनका दार्शनिक अभिप्राय उनकी साहित्यिक संरचना से अन्तर्ग्रथित रहता है। इसलिए 'डी-कंस्ट्रक्शन' में इस प्रकार का विभाजन करना उचित नहीं है।

देरिदा ने 'ऑफ ग्रैमेटोलॉजी' (Of Grammatology) में आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रतिष्ठापक फर्डिनांद डी. सॅस्यूर का अध्ययन किया है, जिससे संरचनावाद के लिए उसे उद्धरणीय बिन्दु प्राप्त हो सके हैं। देरिदा को सॅस्यूर के मूलाधारीय पाठ, बुनियादी पाठ के भीतर आत्म-विसंरचनात्मक प्रवृत्ति की पहचान करनी पड़ी। यहाँ 'डी-कंस्ट्रक्शन' को संरचनावाद की समीक्षा के बतौर मनवाने में सहायता प्राप्त हुई। इसीलिए यह उत्तर संरचनावाद का उद्घाटक या प्रारम्भक सिद्ध हुआ। वास्तविकता यह है कि सॅस्यूर के पाठ में उपलब्ध आलोचनात्मक अभिप्राय का स्पष्टीकरण स्वतः संरचनावाद के भीतर संसाधनों को स्पष्ट करता है, जिनसे कि संरचनावाद अंशतः उत्पन्न हुआ। जूलिया क्रिस्तिवा के साथ देरिदा का साक्षात्कार (Semiology and Grammatology) संरचनावाद और आज के संकेत-विज्ञान के प्रति उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। उसकी Positions पुस्तक, जिसमें कि यह साक्षात्कार संकलित हुआ, देरिदा की सभी पुस्तकों में सर्वाधिक अभिगम्य अथवा सुगम या प्रभावनीय है।

जोनाथन कॅलर ने Nicholas, Royale के इस कथन को उद्धृत किया है – An excellent introduction to the topic of De-construction in all its breath is De-construction. पहले नजरिये में 'डी-कंस्ट्रक्शन' को पाश्चात्य दर्शन की समीक्षा के बतौर समझा जाता है। देरिदा ने उपस्थिति (Presence) के सिद्धान्त पर आधारित तर्कों को जहाँ सत्य, भव्यंता और यथार्थ-प्रत्ययाश्रित या सत्तामूलक केन्द्र-सत् या उद्भव के सम्बन्ध में निर्धारित किया है, वहाँ यह अनुपस्थिति और अन्तर के दमन पर आधारित है।

विसंरचना किसी वैकल्पिक सिद्धान्त को खड़ा करके काम नहीं करती, बल्कि दार्शनिक प्रोक्तियाँ अपनी अवधारणाओं को कैसे प्रस्तुत करती हैं, इसके पर्यवेक्षण द्वारा काम करती है। यहीं यह दीखने लगता है कि इसमें दार्शनिक समीक्षा की परम्परा के अन्तर्गत अपने को नहीं रखने की प्रतीति है, जिसके द्वारा दर्शन-शास्त्र ने अपने इतिहास को सृजित किया है। इस रूप में वैसी स्थिति से यह बाहर दीखती है, पर दार्शनिक संक्रियाओं के अन्दर से भी सरोकार रखती है। यहाँ विसंरचना पश्चिमी चिन्तन की बुनियादी कोटियों की उग्र समीक्षा का काम अपने हाथ में लेती है। वह यह छान-बीन करके दिखाती है कि कैसे ये कोटियाँ उन प्रोक्तियों के द्वारा रचित हुई हैं, जो उन पर विश्वास करती हैं और निर्भर हैं। यह उन बुनियादी विरोधों को एक प्रदर्शन के द्वारा खोले जाने को अपने में समाविष्ट करती है तथा यह बताती है कि वह रचना है, संघटना है, न कि चीजों के स्वभाव का भाग है। यहाँ प्रोक्तियों के द्वारा अध्यारोपित कोटियों ने उनके प्रदर्शन के साक्ष्य मुहैया किये हैं। यदि कोई विसंरचना को विश्लेषण की प्रविधि के रूप में मानता है, तो उसे इस बात पर बल देना चाहिए कि यह न केवल दार्शनिक पाठों के तर्क-मात्र की परीक्षा करती है, बल्कि उसमें प्रयुक्त युक्तियों और आलंकारिक प्रविधियों तथा तनावों और विरोधों के बीच क्या दावा किया जाता है या क्या मान लिया जाता है और स्वतः पाठ वैसे दावों के समर्थन में अपनी ओर से क्या कहता और करता है – इन सबकी परीक्षा करती है।

विसंरचना का एक प्रधान बिन्दु परम्परित द्विध्रुवी विरोधिता का रहा है, जिसने यूनानियों के समय से ही पश्चिमी चिन्तन को संरचित किया है। उदाहरण के लिए आन्तरिक और बाह्य, मन और शरीर, अनलंकृत और अलंकृत, वाचन और लेखन, उपस्थिति और अनुपस्थिति, प्रकृति और संस्कृति, बोधगम्य और अनुभवगम्य, रूप और अर्थ—ऐसी द्विध्रुवी विरोधिता के दृष्टान्त हैं। इनमें से प्रत्येक विलोम या विरोध ऊर्ध्वाधर क्रम रखने वाला है। आशय यह है कि इसका एक पद जो पूर्व पद है वह प्राथमिक और बुनियादी है और दूसरा पद द्वितीयक, अमौलिक या उससे संजात है। इस तरह परम्परा से प्रकृति संस्कृति से पहले है। लेखन भी वाचन को निरूपित करने का मार्ग-भर है और वाचन को ही भाषा का मूलभूत रूप माना जाता रहा है। इसी तरह अर्थ पहले है और रूप बाद में है, जो उसे अभिव्यक्त करने के लिए आता है।

इन विरोधी युग्मों की विसंरचना अब यह पूछती है कि चिन्तन और दार्शनिक कार्य सामान्य तौर पर एक पद-विशेष को विशेषाधिकार देने पर कैसे भरोसा करते रहे हैं? यही नहीं, विसंरचना हमें इस पर विचार करने के लिए आमन्त्रित भी करती है कि तथ्यतः क्या ऊपर-नीचे की ऐसी श्रेणीबद्धता को संशोधित या परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिए? विशेष रूप में विसंरचना ऊपर-नीचे के इस श्रेणीबद्ध युग्म पदों से यह प्रश्न करती है। वह भी यह दर्शाते हुए कि वे कैसे निर्मित और संरचित हुए हैं और इस प्रक्रिया में उस निर्मिति और संरचना को खोलते हुए तथा युग्म पदों के बीच एक नये सम्बन्ध को स्थापित करते हुए। उदाहरण के लिए यह दिखाया जा सकता है कि प्रकृति का प्रत्यय वस्तुतः संस्कृति का ही उत्पादन है, क्योंकि संस्कृति के पहले किसी की कल्पना करना या उसके विषय में सोचना-समझना अपने-आप में एक विशिष्ट सांस्कृतिक क्रिया ही है, जिसके महत्त्व और प्रकार्य को कूतने या मूल्यांकित-निर्धारित करने की जरूरत है। इसलिए प्रकृति और संस्कृति के विरोधी युग्म में प्रकृति की प्राथमिकता

को सच नहीं माना जा सकता। आज जो प्रकृति के रूप में परिगणित है वह किसी ऐतिहासिक समय में उस संस्कृति का ही एक तथ्य रहा होगा। इस रूप में तर्क करती हुई विसंरचना विरोधी पद में द्वितीयक या गौण को पुनः संरचित करती उसकी स्थिति को त्रिपर्यस्त कर देती है। विसंरचना की यही विशेषता है, जो प्राथमिक प्रकृति और द्वितीयक संस्कृति के स्थान पर संस्कृति के अन्तर्गत ही प्रकृति और संस्कृति के बीच परिवर्तनीय विशिष्टता को खोज निकालती है।

देरिदा के लिए सर्वाधिक कारगर और व्यापक विरोधी पद वह रहा है, जो लेखन को द्वितीयक और वाचन को प्राथमिक मानता रहा है। इस विरोधी युग्म के अनुरूप वाचन में वक्ता के प्रत्यय और मन्तव्य तात्कालिक रूप में प्रस्तुत होते हैं। इसलिए यह भाषा का प्रत्यक्ष और प्रामाणिक या विश्वसनीय रूप है, जबकि लेखन वाचिक शब्द का मात्र लेखिमिक निदर्शन है। वह एक संकेत का संकेत है। इसलिए वह अनुपस्थिति में भी सम्भव है। रूप और अर्थ के बीच यहाँ विसंगति और भिन्नता की भी सम्भावनाएँ हैं। इस तरह लेखन को द्वितीयक और व्युत्पन्न मान कर दरकिनार कर देना देरिदा के लिए एक निदर्शन हैं, जो गलतफहमी और भ्रम के सिवा और कुछ नहीं है। भाषा का स्पष्टीकरण या महत्त्वांकन न सदैव वाचन के आदर्शीकृत रूप के बतौर किया गया है। यहाँ भाषिक रूप को वक्ता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के बतौर लिया गया है। पर देरिदा तर्क करता है कि भाषिक रूप केवल संकेत के बतौर अपना कार्य-सम्पादन कर सकते हैं। वह भी उस सीमा तक जहाँ उसे भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में दुहराया जा सकता है। वह भी किसी विशेष वक्ता की उपस्थिति और मन्तव्य की उपस्थिति में। दूसरे शब्दों में वाचन केवल तभी सम्भव है और उस सीमा तक ही सम्भव है, जिस सीमा तक इसने लेखन की गुणवत्ता निर्धारित की है। उदाहरण के लिए अनुपस्थिति विभेदकता और गलतफ़हमी की सम्भावना। देरिदा ने इसका जो चिह्न दिखाया है वह वाचन को वर्णित करने के प्रयासों में बारम्बारी या आवर्ती आश्रय है। लेखन से लिये गये उदाहरणों और रूपकों के आधार पर वाचन को वर्णित-व्याख्यायित करने के प्रयास में प्रभावतः वाचन या वाक् को ही लेखन के एक रूप के बतौर वर्णित-व्याख्यायित किया गया है, जबकि दावा यह किया जाता रहा है कि लेखन वाक् से व्युत्पन्न है। वाक् और लेखन के बीच ऊपर-नीचे की परम्परित श्रेणीबद्धता के विरोध में विसंरचना तर्क देती है कि वाक् और लेखन के बीच कोई अन्तर नहीं है। लेकिन परम्परित विरोध अयुक्ति-युक्त है। वाचन और लेखन – दोनों ही एक प्रकार के सामान्य लेखन (Arche-Ecriture) के ही रूप हैं, जो निरूपण की किसी व्याख्या के लिए सम्भावना की स्थिति भी हैं।

देरिदा तर्क करता है कि यह पश्चिमी संस्कृति का शब्द-केन्द्रीयतावाद ही है, जो लेखन को वाक् के द्वितीयक रूप में मानता है। संकेतों के द्वारा इसके निरूपण के पहले के सत्य या विचार के अनुक्रम की कल्पना के रूप में शब्द-केन्द्रीयतावाद निरूपण को अननिवार्य मानता है बजाय इसके कि इसे संरचना में विकट या जटिल तौर पर समाविष्ट माना जाये। पर दार्शनिक परम्परा के पाठों का ध्यानपूर्वक किया जाने वाला वाचन यह दिखाता है कि वे एक सर्वथा भिन्न कहानी कहते हैं। देरिदा की कृति उस प्रोक्ति को अप्रमाणित करने का प्रयास करती है, जो लेखन को द्वितीयक मानती है। पर वास्तव में यहाँ उस धारणा का व्यवहार किया जाना

चाहिए, जो लेखन से जुड़ी है। जब वह वाक् या वाणी को विशेषीकृत करता है, तो इसी वाणी को सामान्यीकृत लेखन के रूपान्तर के बतौर देखा जा सकता है। यही सामान्यतः चिन्तन और भाषा की स्थिति है। यह अवधारणाओं की विसंरचना का दृष्टान्त भी है, मूलाधारी अवधारणाओं का, जिनके अन्तर्गत उपस्थिति, सत्य, उद्भव और अभिज्ञान जैसी अवधारणाएँ भी आती हैं।

विश्लेषक और दार्शनिक सामान्यतः विसंरचना और देरिदा – दोनों के प्रतिरोधक रहे हैं। इस बिन्दु तक आने के बाद भी इसे प्रायः दर्शन से बाहर निकाल कर साहित्य-सिद्धान्त के साथ साहचर्यित कर दिया जाता है। पर रोडोल्फ़ गैशी (Rodolophe Gasche) साहित्य-सिद्धान्त से देरिदा को बचाने-छुड़ाने के लिए कृत-संकल्प रहा है। उसने यूरोपीय दर्शन की परम्परा के लिए उसे फिर से हथियाने की कोशिश की है। उसकी 'The Tain of the Mirror: Derrida and the Philosophy of Reflection' किताब महत्त्वपूर्ण है, जिसमें Infrastructures and Systematicity नामक निबन्ध में परम्परित प्रविधि के व्यवस्थित दार्शनिक के बतौर देरिदा को उपस्थापित करने का सर्वाधिक श्रमपूर्ण और सफल प्रयास किया गया है। पर Bennington ने गैशी को उत्तर दिया है। फिर भी फ्रांस में Kafman, Labarthe और Nancy देरिदा से नज़दीकी तौर पर जुड़े हुए दार्शनिक रहे हैं।

विसंरचना दार्शनिक कृतियों के परिमंडल में किसी विकल्पात्मक सिद्धान्त को स्थापित करने का काम नहीं करती, बल्कि इसकी छान-बीन करती है कि कैसे दार्शनिक प्रोक्तियों ने अपनी अवधारणाएँ आलंकारिक स्तर-रत्नों के द्वारा प्रस्तुत की हैं। पर विसंरचना का स्वागत साहित्य के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने भी किया है। उन्होंने इसे वाचन के सशक्त अभ्यास के रूप में देखा है कि कैसे दार्शनिक या साहित्यिक पाठ सुस्पष्ट अवधारणाओं पर प्रच्छन्न रूप में सवालिया निशान लगा देते हैं। बार्बरा जॉनसन (Barbara Johnson), जो एक प्रमुख अमेरिकी विश्लेषिका हैं, विसंरचना को पाठ के अन्तर्गत अर्थ की परस्पर प्रतिस्पर्धी शक्तियों के बाहर एक सावधान धुनाई के बतौर देखती हैं। इस केन्द्रण ने सभी प्रकार के पाठों की यान्त्रिकी के प्रति, चाहे उसका जी भी क्षेत्र हो, विसंरचना को विकीर्णन की शक्ति-क्षमता प्रदान की है तथा उसे इस योग्य बना दिया है कि वह दर्शन के औपचारिक अध्ययन से कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न करे।

१९७० और १९८० के दशक ने साहित्य-अध्ययन के प्राण-संचारण और रूपान्तरण में अपनी प्रमुख भूमिका अदा की, जिसे संक्षेप में केवल सिद्धान्त (Theory) के नाम से पुकारा गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त भाषा के प्रकृति-विषयक सवालों से, अर्थ के उत्पादन से और साहित्य तथा अनगिनत प्रोक्तियों के बीच के उन सम्बन्धों से सरोकार रखता है, जो मानव के अनुभव और उसके इतिहास को संरचित करते हैं। इसने वैसे मुद्दों पर विचार-विमर्श करते हुए स्पष्ट किया कि उन्हें दार्शनिकों के लिए नहीं छोड़ा जाये और प्रयोज्य-प्रविधि के तत्त्व के बतौर पहले ही विचार का विषय न बनाया जाये, बल्कि साहित्यिक कृतियों के द्वारा स्वतः उभारे गये सवालों के बतौर विचार किया जाये, जिससे कि साहित्य को पढ़ना उसमें भाग

लेना और उसमें रम जाना बन जाये। इस तरह विसंरचना ने साहित्यिक अध्ययन को रूपान्तरित कर दिया।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सबसे पहले विशेष तौर पर विसंरचना येल विश्वविद्यालय के विद्वानों के एक वर्ग के साथ जुड़ी। यहाँ देरिदा ने नियमित तौर पर विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में १९७५ से आरम्भ होने वाले दशक में अध्यापन-कार्य किया। पॉल डी.मान, जी. हिलिस मिलर और बार्बरा जॉनसन के हाथों में विसंरचना सैद्धान्तिक अध्ययन की एक सशक्त पद्धति सिद्ध हुई, विशेषतः आलंकारिक वाचन की, जो सभी प्रकार के पाठों में जो दाँवों पर होता था उसके प्रति ध्यान देता था, और यह देखता था कि कैसे उस दाँव लगाने को, चुनौती देने को पाठ ने अपने-आप में उलझा रखा है। इस विसंरचनात्मक साहित्यालोचन की तुलना विशेष तौर पर इसके आलोचकों के द्वारा इसकी पूर्ववर्ती एंग्लो-अमेरिकी नयी आलोचना के साथ की गयी, जिसने कला की शाब्दिक कृतियों को जटिल निर्मिति के बतौर व्याख्यायित और प्रशंसित करने की माँग की थी और इन जटिल कला-तथ्यों में विरोधाभास और विडम्बना की भूमिका पर बल दिया था। पर विसंरचनात्मक अध्ययन नयी आलोचना से कई रूपों में अपनी विभिन्नता दिखाता है। विसंरचना कलाकृतियों को रूप और अन्तर्वस्तु के सुसंगत समेकन या सायुज्य के रूप में नहीं देखती है, बल्कि अर्थ की प्रविधियों के बीच अन्योन्य क्रियात्मक संघर्ष के उदाहरण के रूप में देखती है। विसंरचना सामान्यतः किसी वैयक्तिक कृति को आत्म-संसर्गित कला-तथ्य के रूप में परीक्षित न कर साहित्यिक अथवा असाहित्यिक पाठों और प्रोक्तियों के सम्बन्ध से जोड़ते हुए उसके उत्पादन के बतौर देखती है। अन्ततः यह विशेष तौर पर उन रूपों में अभिरुचि रखती है, जहाँ कृतियाँ उस कोटिगत प्रच्छन्न समीक्षा को प्रस्तावित करती हैं, जिनका व्यवहार आलोचक उन्हें विश्लेषित करने के लिए करता है।

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में विसंरचना को लागू करने की दृष्टि से पॉल डी. मान अधिक सशक्त और समर्थ रूप में उभरा है। अपनी आजीविका (Career) के बीच के वर्षों में पॉल डी. मान ने अपने निबन्धों को प्रकाशित किया। ये निबन्ध उन मार्गों की व्याख्या करते हैं जिनमें आलोचक या सिद्धान्तविद् की व्यापक सूझ कुछ निश्चित अन्धता का उत्पादन बनकर उभरती है, जिससे कि पाठ स्वतः जो कुछ कहता है उससे यह कुछ बिल्कुल अलग कह सके। यह उसी प्रकार की चीज़ है जिसे देरिदा ने अपनी पुस्तक Of Grammatology के उत्तरार्ध में रूसो के बारे में चरितार्थ किया था। Of Grammatology की लम्बी समीक्षा में भी अन्धता, अस्पष्टता और सूझ की बात स्पष्ट तौर पर सामने आयी थी। डी. मान ने इसे स्पष्ट किया कि वह अन्धता और अस्पष्टता की संरचना पर विश्वास करता है। उसके अनुसार साहित्य में प्राप्त होने वाली सूझ कृतिकार और उसकी साहित्यिक कृति के सन्दर्भ में नहीं उभरती, बल्कि साहित्य और आलोचक के बीच के सम्बन्ध से उभरती है। डी. मान ने इसके लिए तर्क दिया कि रूसो जो अपने लेखन में कहना चाहता था और जो उसका पाठ वास्तव में कहता है इसमें विरोध है। देरिदा रूसो को ज्ञान के लिए श्रेय देने से आँख मूँद कर अस्वीकार कर देता है। यह उसके लेखन से सिर्फ इसलिए व्युत्पन्न हो सका, क्योंकि इसने पहले स्थल पर

इसे अनुप्राणित किया था। साहित्यिक भाषा अपने अपवाचन को पूर्वकल्पित करती है। इसके लिए वह आलंकारिक युक्तियों को अपनाती है, जो प्रायः अपवाचन के लिए अनुबंधित या प्रतिबद्ध होती हैं। ऐसा देरिदा द्वारा रूसो के मामले में दिखाया भी गया है।

पर देरिदा और डी. मान के बीच एक असहमति भी है। यह असहमति रूसो की भाषा के सम्बन्ध में इस प्रश्न को लेकर है कि क्या वहाँ अपने बयान के प्रति ही अन्धता-अस्पष्टता है? यहाँ अन्त में एक सूक्ष्म असहमति दीखती है और अन्ततः पाठ की विश्लेषण-प्रक्रिया के प्रति ली जाने वाली अवस्थिति या मुद्रा में भी इसे देखा जाता है। पर यही असहमति शायद दोनों को एक साथ निकट लाने में आश्चर्यजनक रूप से प्रभावी बनी, क्योंकि डी. मान देरिदा द्वारा व्यवहृत विसंरचनात्मक अध्ययन के प्रकार को समर्थित करता रहा। यही स्थिति प्रमुख दार्शनिक कृतियों को सुलझाने के सन्दर्भ में भी रही। पर यहाँ देरिदा अपने द्वारा पढ़े जा रहे पाठ के प्रति अधिक प्रश्नात्मक मुद्रा अपनाने की ओर झुका हुआ था और उसने यह घोषणा भी कर रखी थी कि वह जिन पाठों को विसंरचित करता है, ये वे पाठ हैं जिन्हें वह प्यार करता है। पहचान की यह अन्तःप्रेरणा उसके वाचन के लिए अपरिहार्य रही। डी. मान अपने आलंकारिक वाचन में निकटवर्ती अध्ययन की रहस्यमयता को खोलने वाली अंतःशक्ति और चिन्तन की द्वयर्थकता – दोनों पर बल देता है। यह संयोगीकरण पाठों को अधिक प्राधिकार प्रदान करता है। इसलिए निकटता से पढ़ते हुए वे रहस्यों को उजागर करने वाली शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। पर वे अर्थ को कम प्राधिकार देते हैं जो कि इच्छात्मक या विचारधारात्मक अध्यारोपण का उत्पादन होता है। संकेत-विज्ञान और अलंकार-विज्ञान डी. मान के द्वारा प्राउस्ट (Proust) के अध्ययन को Allegories of Reading में दिखाता है। यह साहित्यिक भाषा और आलोचनात्मक कौशलों की दार्शनिक चुनौतियों को धुनकने में अनुकरणीय है। डी. मान का एक बहुप्रशंसित आलेख The Resistance to Theory है, जो सिद्धान्त के विषय में ही लिखा गया है। यहाँ वाचन की समस्या के साथ सिद्धान्त के जरूरी उलझाव और उनके बीच के जरूरी तनाव को निरूपित किया गया है। डी मान का लेखन प्रमुखतः विसंरचना के प्रति है। विशेषतः साहित्य-अध्ययन के क्षेत्र में उसका यह सारा लेखन पाँच कृतियों में संकलित है – (1) Blindness and Insight : Essays in the Rhetoric of Contemporary Criticism, (2) Allegories of Reading, (3) Figural Language in Rouseau, Nietzsche, Rilke and Proust, (4) The Rhetoric of Romanticism and (5) The Resistance to Theory and Aesthetic Ideology. डी. मान के बारे में भी लेखन एक बड़ी मात्रा में सुलभ है। इसकी कृतियाँ भले ही कठिन हैं, पर ये अर्थ-व्याख्या के साथ-साथ समीक्षा के लिए भी अभिप्रेरित करती हैं। विसंरचनात्मक वाचन को सुझाने वाली इसकी कृतियों में De-construction and Criticism तथा My Own Deconstruction : Theory and Criticism after Structuralism जैसी पुस्तकें प्रमुख हैं, जो साहित्य-अध्ययन के प्रति केन्द्रित रह कर उनका विसंरचनात्मक विश्लेषण हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार विसंरचना दर्शन और साहित्य – दोनों से अपना ताल-मेल बिठा लेती है।

दर्पदीप्त करुणा की प्रभुता को चुनौती

– रामदेव शुक्ल

जन्मशताब्दी वर्ष में महादेवी वर्मा को हिन्दी समाज नये जोश-खरोश के साथ स्मरण कर रहा है। उनकी कविता को 'रहस्य लोक में पलायन' मानने वाला समालोचक वर्ग अब इतना उत्साहित हो गया है कि उनके काव्य को स्त्री-विमर्श तक खींचकर इस क्षेत्र में उन्हें अग्रणी घोषित किये दे रहा है। अभी तक 'मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ' और 'परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली' जिन महादेवी का परिचय-पत्र हुआ करता था, उनकी प्रखरता के निराले अन्दाज प्रस्तुत किये जा रहे हैं। हिन्दी समाज का लेखक-सम्पादक-पाठक महादेवी वर्मा को नये रूपों में पहचान रहा है। शिक्षा संस्थान भी संगोष्ठियों और ग्रन्थों के आयोजन कर रहे हैं। शान्तिनिकेतन के हिन्दी-भवन की ओर से अगस्त २००६ में तीन दिवसीय संगोष्ठी में महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व-कृतित्व को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया गया।

जन्मशती के बहाने होने वाले आयोजनों की सार्थकता अपनी जगह है, लेकिन इतनी महत्त्वपूर्ण प्रतिभा के प्रति हिन्दी समाज – विशेषतः समालोचक-अध्यापक, इतिहास-लेखक, शोधकर्त्ता के दायित्वबोध की ओर प्रश्नभरी उँगली उठती है। प्रख्यात समालोचक शिवकुमार मिश्र का एक आलेख चार या पाँच पत्रिकाओं में पढ़ने को मिला। उन्होंने महादेवी वर्मा के साहित्य पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं। उनकी प्रसिद्ध पंक्ति को उद्धृत करने में टाइप की एक भूल सभी पत्रिकाओं में ज्यों-की-त्यों छाप दी गयी है। महादेवी की पंक्ति है –

कौन आया था न जाने, स्वप्न में मुझको जगाने
याद में उन उँगलियों की, हैं मुझे पर युग बिताने।

सभी पत्रिकाओं में दूसरी पंक्ति इस रूप में छपी है –

नींद में उन उँगलियों की हैं मुझे पर युग बिताने।

न किसी सम्पादक को यह 'नींद' खटकती है, न पाठक को। महादेवी वर्मा के साहित्य का मूल्यांकन आरम्भ से ही कुछ इसी प्रकार होता रहा है।

मिलन का मत नाम लो / मैं विरह में चिर हूँ।

'वेदना का वरण' महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व-कृतित्व का मूल स्वर माना जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक, समालोचक, अध्यापक और शोधकर्त्ता उनकी वेदना की व्याख्या करते हुए बहुत कुछ लिख चुके हैं। किसी को भी यह जानकर संतोष होगा कि महादेवी जी अपनी वेदना का कारण स्वयं बताती हैं।

उनका कहना है कि "अपने दु:खवाद के विषय में भी कह देना उचित जान पड़ता है। सुख और दु:ख के धूप-छाँही रंग के डोरों से बने हुए जीवन में मुझे केवल दु:ख ही गिनते रहना क्यों प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस क्यों का उत्तर दे सकना मेरे लिए किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। साधारणत: जिसे दु:ख और अभाव के नाम से जाना जाता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दु:ख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे बहुत प्रिय लगने लगी।"

महादेवी वर्मा के इस तर्क से कोई भी व्यक्ति सहमत होगा? फिर यह उत्तर महादेवी ने क्यों दिया? इसे जानने समझने के लिए उनके जीवन, उनके व्यक्तित्व, उनके सम्पूर्ण कृतित्व एवं इस सब कुछ पर इतिहासकारों से लेकर मनोवैज्ञानिकों तक की सम्मति उपयोगी होगी।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल छायावाद पर लिखने से पहले 'काव्य को अधिक कल्पनामय ; चित्रमय और अन्तर्भाव व्यंजक रूप-रंग देने, रहस्य भावापन्न प्रगीत मुक्तक लिखने, काव्य क्षेत्र का प्रसार चाहते हुए' प्रकृति की साधारण–असाधारण वस्तुओं से अपने चिर सम्बन्ध का सच्चा मार्मिक अनुभव करने वाले मैथिली शरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय के माध्यम से स्वच्छन्द नूतन पद्धति को रेखांकित करते हैं। इसके बाद लिखते हैं कि "यह स्वच्छन्द नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रहा था कि श्री रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद' या 'चित्र भाषावाद' को ही एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े। 'चित्र भाषा' या अभिव्यंजना-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया। इस बाँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने 'छायावाद' नाम ग्रहण किया।" (वही, पृ. ६३६)

इस स्थल पर शुक्लजी किसी कवि का नाम नहीं लेते किन्तु आगे जो कुछ लिखते हैं, उसके केन्द्र में महादेवी वर्मा की कविता है – "रहस्य भावना और अभिव्यंजना पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से सहानुभूति तक कल्पित होने लगी। जिस प्रकार अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्र भावानुभूतियों की कल्पना भी बहुत कुछ होने लगी। काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तु-योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात् स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो हृदय से उसका सम्बन्ध क्या रहेगा? भावानुभूति यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती तो सच्चाई (सिंसियरिटी) कहाँ रहेगी? यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कह कर उसका प्रबल अभिलाष व्यंजित करे, अपने मर मिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाष या गर्व की कहीं सत्ता मानने की आवश्यकता न होगी।" (पृष्ठ ६३७)

पाठक यहाँ महादेवी वर्मा के प्रसिद्ध गीत की पंक्तियों को प्रत्यक्ष देख सुन सकता है-

क्या अमरों का लोक मिलेगा / मेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! मुझे / यह मेरा मिटने का अधिकार।

आचार्य शुक्ल छायावाद का पहला और मूल अर्थ रहस्यवाद बताते हैं और दूसरा 'काव्यशैली या पद्धति विशेष।' अपने इतिहास में पहली बार महादेवी वर्मा का नाम वे इस रूप में लेते हैं - "छायावाद का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलने वाली श्रीमती महादेवी वर्मा ही हैं। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।" (वही, पृ. ६३८) छायावाद-प्रकरण के अन्त में लगभग एक पृष्ठ 'महादेवी वर्मा' पर लिखते हुए आचार्य शुक्ल 'वेदना' को ही इनके हृदय का भावकेन्द्र बताते हैं। "उस अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भावकेन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूट कर झलक मारती रहती हैं। वेदना से इन्होंने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसी के साथ वे रहना चाहती हैं। उसके आगे मिलन सुख को भी वे कुछ नहीं गिनतीं। वे कहती हैं कि - 'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।' इस वेदना को लेकर इन्होंने हृदय की ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखी हैं जो लोकोत्तर हैं। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।" (पृ. ६८४)

आचार्य शुक्ल के सामने 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' और इन सबका सचित्र संग्रह 'यामा' है। वे लिखते हैं, "गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्राञ्जल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।" (पृष्ठ ६८५)

आचार्य शुक्ल के सामने न तो महादेवीजी की परवर्ती रचनाएँ थीं न उनका अप्रतिम गद्य-साहित्य था। इसलिए बाह्य जीवन-जगत् के प्रति महादेवी के जुड़ाव को लक्ष्य करने का प्रश्न ही नहीं था। जहाँ तक 'अनुभूति' की वास्तविकता और उसकी 'रमणीय कल्पना' की बात है, इस पर आगे विचार किया जायेगा। अभी तो उनकी वेदना वाली बात पर थोड़ा ध्यान देना है। 'पथ के साथी' में निरालाजी पर लिखते समय महादेवी का एक मर्मस्पर्शी वाक्य है - "साहित्यकार के जीवन का विश्लेषण उसके साहित्य के मूल्यांकन से कठिन है।" यह कार्य कितना कठिन हो जाता है, जब साहित्यकार जाने-अनजाने अपने चेतन-अचेतन के दबाव में अपने जीवन के विषय में कोई स्पष्टीकरण करने लगता है। ठीक इसी तरह का है महादेवी वर्मा का वेदना को अपनाने का कारण वाला तर्क। उसके पीछे छिपे वास्तविक अर्थ की तड़प को अन्य लोगों के विषय में की गयी महादेवीजी की टिप्पणियों की सहायता से समझा जा सकता है।

सुभद्रा कुमारी चौहान को स्मरण करती हुई महादेवी वर्मा लिखती हैं – "अजगर की कुंडली के समान स्त्री के व्यक्तित्व को कस-कस कर चर-चर कर देने वाले अनेक सामाजिक बन्धनों को तोड़ फेकने में उनका जो प्रयास लगा होगा, उसका मूल्यांकन सम्भव नहीं है।"

'श्रृंखला की कड़ियाँ' में 'अजगर की प्राणांतक कुंडली में जकड़े मृग' वाला बिम्ब और विकसित हो उठता है, जब महादेवी 'स्त्री की दशा' पर टिप्पणी करती हैं – "यदि स्त्री की ओर देखा जाय तो निश्चित देखने वाला काँप उठेगा। उसके हृदय में प्यास है किंतु उसे भाग्य ने मृग मरीचिका में निर्वासित कर दिया है। उसे जीवनभर आदि से अंत तक सौन्दर्य की हाट लगानी पड़ी। अपने हृदय की समस्त कोमल भावनाओं को कुचल कर, आत्म-समर्पण की सारी इच्छाओं का गला घोंट कर रूप का क्रय-विक्रय करना पड़ा और परिणाम में उसके हाथ आया एकाकी अंत।"

यह 'एकाकी अंत' 'मेरा परिवार' में मोर नील कंठ के सन्दर्भ में उसकी मृत्यु के बाद मोरनी राधा के सम्बन्ध में महादेवी के एक 'शब्द' से कितना अधिक अर्थ प्राप्त करता है ? मोर की मृत्यु के बाद वे लिखती हैं – "राधा (मोरनी) अब प्रतीक्षा में ही दुकेली है।" यह दुकेलापन – अनन्त प्रतीक्षा – कभी खत्म न होने वाली प्रतीक्षा – क्या महादेवी वर्मा की पूरी पहचान नहीं बन जाती? उनका अति प्रसिद्ध गीत है – पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला। गीत की अन्तिम पंक्ति है – जान लो वह मिलन एकाकी, विरह में है दुकेला।

महादेवी वर्मा की अति संवेदनशीलता प्रमाणित करती है पाँच छः वर्ष की उम्र में लिखी उनकी पहली कविता – 'माँ के ठाकुर जी भोले हैं। जाड़े के मौसम में बच्ची देखती है कि माँ सूर्योदय से पहले ही ठाकुर जी को जगा देती हैं। उन्हें स्नान कराती हैं। बच्ची सोचकर सिहर जाती है कि ठाकुर जी को कितनी तकलीफ होती होगी। तब भी ठाकुर जी प्रतिवाद नहीं करते।

बहुत सवेरे उन्हें जगाती / ठंडे पानी से नहलाती।
तब भी कभी नहीं बोले हैं / माँ के ठाकुर जी भोले है।

नौ वर्ष की उम्र में विवाह हुआ। डॉक्टर पति के साथ दाम्पत्य का प्रारम्भ भी नहीं हुआ था कि सदा के लिए उसका अन्त हो गया। भारतीय समाज में बच्ची को विवाह और पति-सुख के सुनहरे सपनों के बीच बड़ा किया जाता है। विवाह और 'पति-सुख' का अर्थ समझने की उम्र से पहले ही 'प्यास से भरे हृदय वाली को मृगमरीचिका में झुलसकर प्राण दे देने की नियति' से सर्जनात्मक प्रतिभा ने महादेवी को उबार कर रचना के अमृत स्रोत से जोड़ दिया। 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं – "प्रारम्भिक पूँजीवाद में जिस व्यक्ति स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ, उसका प्रभाव समस्त छायावादी काव्य पर पड़ा है। छन्द के बन्धन से कविता को मुक्त किया गया, साम्राज्यवादी बन्धनों से देश को मुक्त करने की कामना व्यक्त की गयी, स्त्री-स्वातन्त्र्य की भी आवाज उठायी गयी। पुरुष-कवियों ने स्त्री-स्वा को वाणी दी। किन्तु महादेवी इस पार की भोक्ता थीं। इस भोग और स्वा के दो पाटों के बीच वे बुरी तरह

पिस रही थीं। महादेवी की कविताओं पर पुरुषों द्वारा – निर्धारित सिद्धान्तों को चस्पा किया जाता रहा है।" (हि. सा. का दूसरा इतिहास, पृ. ३८६-८७)

यहाँ तक तो गनीमत है। उत्साह में डॉ. सिंह एकदम फेमिनिस्ट क्रिटिसिज्म तक बढ़ चलते हैं। वे लिखते हैं – "इधर स्त्रियों की रचनाओं के प्रति दृष्टिकोण बदल गया है। इसके लिए समीक्षा की एक नयी प्रणाली – फेमिनिस्ट क्रिटिसिज्म (महिलोचित आलोचना) विकसित हो चुकी है। इस दृष्टि से विचार करने पर महादेवी की कविताओं की संरचनात्मक जटिलता और अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता पर नया प्रकाश पड़ेगा। यह मूलतः समाज द्वारा उत्पीड़ित नारी की आत्माभिव्यक्ति है जो विद्रोह और आत्मदमन दोनों छोरों को छूती रहती है।" (वही, पृ. ३८७)

इस सरलीकरण से अनेक प्रश्न उभरते हैं। महादेवी वर्मा अपनी गद्य-रचनाओं में 'समाज द्वारा उत्पीड़ित' नारी की व्यथा को वाणी देती हैं। क्या वे स्वयं समाज द्वारा उत्पीड़ित हैं? उत्पीड़न का आधार आर्थिक और दैहिक शोषण होता है। महादेवी वर्मा इन दोनों रूपों में कभी 'शोषित या उत्पीड़ित' नहीं हुईं। बाल-विवाह की रूढ़ि के कारण नौ वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ। ज्योंही उन्हें अपने विवाह की विषमता का साक्षात्कार हुआ उन्होंने स्वतन्त्र जीवन का वरण कर लिया। विद्रोह और आत्मदमन उनके व्यक्तित्व में हैं किन्तु बहुत गहरे स्तर पर। उनकी कविताओं में रहस्यानुभूति के विविध रंग हैं। प्रायः लोगों से यह समझने की असावधानी हुई है कि अपने समय के यथार्थ को महादेवी वर्मा ने अपनी कविताओं में अनदेखा किया। यह बात पूरी तरह सच नहीं हैं। जिस तरह रीतिकालीन नखशिख से चिढ़कर पन्तजी ने 'मोह' कविता में कहा था –

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

उसी तरह महादेवी वर्मा (मानों अपनी और अन्य छायावादियों की भी) रहस्यानुभूति वाली कविताओं के समानान्तर वाग्देवी से प्रश्न करती हैं –

कह दे माँ अब क्या देखूँ?
देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को
तेरी सुमधुर सुषमा या जर्जर जीवन देखूँ?
तेरा वैभव देखूँ या जीवन का क्रंदन देखू?

आचार्य शुक्ल 'अनुभूति की कल्पना' का सवाल खड़ा करते हैं तो 'दूसरा इतिहास' में डॉ. बच्चन सिंह सन्देह-परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उपर्युक्त कविता के विषय में टिप्पणी करते

हैं – "ऐसी कविताओं में 'अनुभूति की कमी' नैतिक वक्तव्यों द्वारा पूरी होती है। वक्तव्य प्रायः सपाट हो जाते हैं।" (पृष्ठ ३९०)

आश्चर्यजनक है कि इसी 'इतिहास' में डॉ. सिंह महादेवी वर्मा के विषय में लिखते हैं - "उनके जीवन का जो नक्शा हमें उपलब्ध है, उसमें हरे-भरे मैदानों के पीछे रेतीले प्रदेश हैं, पहाड़ों के पीछे सुलगता हुआ ज्वालामुखी है। उनकी विद्रोहाग्नि नारीजनोचित शील और संयम से आच्छादित है। वे इसी आग में जलती रहीं। कभी-कभी इस आग की चिनगारियाँ और लपटें भी दिखाई पड़ जाती हैं। जलना इनके जीवन का पर्याय बन गया। यह जलन उनका अपना भी है और शताब्दियों से प्रतिबन्धों में जकड़ी हुई नारी जाति का भी – विशेषतः मध्यवर्गीय नारी जाति का।"

'चिनगारियाँ और लपटें' कभी-कभी देख पाने वालों को स्वयं महादेवी के गीतों में बार-बार आने वाले इस प्रकार के बिम्बों का अध्ययन करना चाहिए –

आँसुओं की हाट औ चिनगारियों का एक मेला

मेला और हाट का अन्तर बहुत स्पष्ट है। हाट गाँव-देहात में शाम के समय कुछ घंटों के लिए लगती है जबकि मेले महीनों चलते रहते हैं। महादेवी के गीतों के आधार पर उन्हें सिर्फ वेदना की कवयित्री घोषित करने वालों की भीड़ 'आँसू' देख पाती है, 'चिनगारियों का अनवरत मेला' उसकी आँखों से ओझल रहता है।

जो 'चिनगारियों के इस मेले' को देख पाते हैं, 'महादेवी के काव्य में निराशा का नकारात्मक रूप नहीं, करुणा का सकारात्मक पक्ष' 'जीवन का उत्साह, उल्लास' रेखांकित करते हैं। 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी इन बातों की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं – "कवयित्री जब कहती है –

तरी को ले जाओ मँझधार
डूब कर हो जाओगे पार,
विसर्जन ही है कर्णाधार,
वही पहुँचा देगा उस पार।

तो यहाँ कोई निराशा या पलायन का स्वर नहीं है। एक ओर अनुभव के तईं अपने को समर्पित कर देना है, और एक दूसरे स्तर पर तत्कालीन राष्ट्रीय संग्राम में आत्माहुति के लिए आवाहन है।" (पृ. १५८)

चतुर्वेदीजी ने महादेवी के प्रथम गीत संग्रह 'नीहार' की भूमिका के एक अंश का स्मरण किया है। यह भूमिका अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने १९३० में लिखी। हरिऔध ने नये छायावादी काव्य का स्वागत किया। अन्त में 'नीहार' के प्रकृति, प्रणय, वेदना वाले गीतों को ध्यान में रखकर महादेवी के लिए उन्होंने शुभकामना की। लिखा – "उनकी हृत्तंत्री की अपूर्व

झंकार में भारत माता के कंठ की वर्तमान ध्वनि भी श्रुत होनी चाहिए।" कविसम्राट हरिऔध की शुभकामना का सम्मान किया महादेवी ने। दो वर्ष बाद अपने दूसरे संग्रह 'रश्मि' में उन्होंने 'दुविधा' कविता लिखी, जिसमें सीधे प्रकृति से ही प्रश्न किया – 'कह दे माँ! क्या देखूँ?'

गद्य रचनाओं में तो वे 'भारतमाता के कंठ की वर्तमान ध्वनि' सुनाती ही रहीं, परवर्ती गीतों में भी – 'जाग बेसुध जाग!' जाग तुझको दूर जाना, 'पूछता क्यों शेष कितनी रात?' आदि के माध्यम से जागरण-गान गाती रहीं।

महादेवी वर्मा को आधुनिक युग की मीराबाई कहा जाता है। दोनों में इतनी ही समानता है कि शैशवावस्था में विवाह कर दिया गया। मीरा को वैधव्य के कारण और महादेवी को विवाह की विषमता के कारण पूरा जीवन एकाकी बिताना पड़ा। इतनी सामान्य सी समानता के विरुद्ध मीरा और महादेवी में असमानता विशेष रूप से स्मरणीय है।

मीरा राजपुत्री थीं, किन्तु माँ की अकाल मृत्यु से असहज बचपन। चार पाँच वर्ष की बच्ची मीरा ने अटारी से बारात देखी। राजमहल की अट्टालिका से नीचे सड़क पर झाँकती स्त्रियाँ कुतूहल से 'दूल्हे' को देख सराह रही थीं। उत्सुकता का प्रतिरूप बनी बच्ची ने पूछ लिया - - 'मेरा दूल्हा कौन है?' एक स्त्री ने वहीं से राजमहल के मन्दिर में विराज रही कृष्ण की मूर्ति की ओर इशारा कर दिया – 'तेरा दूल्हा वो रहा।' बच्ची ने चुहल को अन्तिम सत्य मान लिया। इस सीमा तक कि बारह की उम्र में विवाह हुआ तो वर से कह दिया –किसी और शैया पर सो जाओ। मेरे साथ तो गिरिधर नागर सोये हैं।' संवेदनशील पति ने बाल पत्नी के आग्रह की रक्षा की। पाँच वर्ष बाद उनकी मृत्यु हुई। पुरजन परिजन ने कहा, 'विधवा हो गयी। शृंगार छोड़ दो।' मीरा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत दबाव पड़ा तो कह दिया - मेरा पति वह है जो अविनाशी है। 'विधवा वे स्त्रियाँ होती हैं जिनके पति मरणधर्मा सांसारिक पुरुष होते हैं। मैं अविनाशी की पत्नी हूँ। मैं विधवा हो ही नहीं सकती।' वे गिरिधर राग में रंगी रहीं। लोकलाज, कुलकानि, राजपरिवार की मर्यादा की दुहाई दी गयी। मीरा ने खुली चुनौती फेंक दी –

अपने कुल का परदा कर लो।
मैं अबला बौरानी।।

गोया, अपने प्रकाश से चौंधियाते किसी प्राणी की चिचिआहट सुन कर सूरज कह रहा हो – 'मैं तो तपूँगा। तुम अपनी आँखों के आगे परदा कर लो।'

घोर मध्ययुगीन राजस्थान में — जहाँ जनमते ही बेटियों को इसलिए मार दिया जाता था कि किसी को दामाद बनाने में पगड़ी नीची होगी – मीरा ने 'अबला' का साहस दिखाकर एक से एक बलवीरों को बलहीन बना दिया। राजसत्ता, पुरुषसत्ता, रूढ़िसत्ता, पुरोहितसत्ता सबको एक साथ ललकारती हुई मीरा दीर्घ आयु तक अपने गिरिधर को गले लगाये रहीं। अन्त में द्वारका के नीलसमुद्र में – नीलमाधव में विलीन हो गयीं। आगे पंडापुराण ने गाया कि वे द्वारकाधीश के विग्रह में समा गयीं। ठीक वैसे ही जैसे दक्षिण में अंदाल को विष्णु विग्रह में समाते घोषित किया गया था।

महादेवी शिक्षित सम्पन्न परिवार में माँ-बाप की स्नेहछाया में पढ़ रही थीं। नौ वर्ष की उम्र में विवाह हुआ। उस युग में आठ वर्ष से ऊपर होने वाली कन्या के माता-पिता चिन्तित होने लगते थे। विवाह के पाँच या सात, कभी-कभी ग्यारह वर्ष बाद 'गौना' होता था। पाँच वर्ष बाद भी महादेवी का गौना हुआ हो, तो चौदह वर्ष की दूल्हन ससुराल गयी। वहाँ जाते ही, पति के स्वभाव की विपरीतता से वैवाहिक जीवन से महादेवी का मोहभंग हुआ। शिक्षा का क्रम आगे चला। महादेवी ने उस समय के साहित्य केन्द्र इलाहाबाद में शिक्षा और सर्जना के बल पर समाज में जो स्थान प्राप्त किया, वह उनके समय की किसी अन्य महिला को नहीं मिला।

मीरा कही जाने की बात पर स्वयं महादेवीजी क्या सोचती थीं, इसका खुलासा राजेन्द्र कुमार करते हैं। "एक व्यक्तिगत भेंट में मैंने महादेवी से सहजतया ही पूछ लिया था कि आपको कुछ लोग 'आधुनिक युग की मीरा' कहते हैं तो खुद आपको कैसा लगता है? मेरी इस जिज्ञासा पर महादेवीजी हँसी थीं। एक उच्छल, उन्मुक्त और उदात्त हँसी। उसी हँसी में मैंने यह जवाब पाया था – भाई, अगर मुझे मीरा कहोगे तो मीरा की कुछ पंक्तियों का अर्थ कई बार बदल देना होगा। मैंने तो ऐसा कुछ लिखा नहीं 'मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।' तो अगर मुझे मीरा कहोगे तो फिर 'दूसरो न कोई' का अर्थ यह करना होगा कि मेरे तो सब अपने हैं कोई दूसरा नहीं।"

'आलोचकथा' में रामस्वरूप चतुर्वेदी 'इलाहाबाद में बौद्धिक आभिजात्य की देवी' के रूप में महादेवी वर्मा को स्मरण करते हैं। इलाहाबाद के श्रेष्ठ रत्नों की गणना करने के बाद चतुर्वेदी जी लिखते हैं –

"इलाहाबाद के इस बौद्धिक आभिजात्य का प्रत्यक्ष निदर्शन महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व तथा कृतित्व में देखा जा सकता है। निर्भीकता और निर्लोभ की सच्ची परीक्षा राजसत्ता के समक्ष व्यवहार में सबसे अधिक होती है, क्योंकि 'लोहे और सोने' (बाहुबल और धनबल) दोनों का मूल स्रोत वही है। महादेवी के लेखन से इस निर्भीकता के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, पर यहाँ एक व्यक्तिगत साक्ष्य के साथ अपनी बात पूरी करना चाहूँगा जिससे स्पष्ट हो सके कि वे कैसे प्रयाग-संगम की तीसरी सरस्वती थीं।

"जनता शासन के चरम वैभव का काल था। दिल्ली की गद्दी पर अपनी पूरी तेजस्विता में मोरारजी भाई विराजमान थे। वहाँ एक पुस्तकालय के एक नये खण्ड के उद्घाटन का अवसर था जिसके निर्माण में श्रीराम परिवार के सदस्यों का योग था। इस उद्घाटन के लिए निमन्त्रित होकर श्रीमती महादेवी वर्मा इलाहाबाद से दिल्ली गयी थीं। इन पंक्तियों का लेखक भी किसी अन्य कारण से वहाँ था। जब इस आयोजन की सूचना मिली तो कुछ मित्रों के साथ सभास्थल पर पहुँचा। मंच पर महादेवीजी थीं, श्रीराम परिवार के प्रतिनिधि थे और पुस्तकालय की प्रबन्धसमिति के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री के सचिव विद्याशंकर महोदय जो किसी जमाने में स्वाधीन भारत के गृहमंत्री सरदार पटेल के सचिव रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे और अब मोरारजी भाई के विशेष आग्रह पर अपने अवकाश काल से वापस आकर

उनके सचिव के रूप में कार्य कर रहे थे। प्रबन्ध समिति की ओर से उन्होंने स्वभावत: महादेवीजी का बड़े भावपूर्ण ढंग से हिन्दी भाषा में बोलते हुए स्वागत किया। इस स्वागत-भाषण में, जैसा कई बार होता है, उन्होंने कुछ व्यक्तिगत स्मृतियों का सहारा लिया। उन्होंने बताया कि महादेवीजी ने एक ही वर्ष में एंट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की थी और उस परीक्षा में दोनों को सम्मान के स्थान प्राप्त हुए थे। फिर दोनों ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक ही साथ प्रवेश लिया। यह अलग बात है कि तत्कालीन सामाजिक स्थितियों में पुरुष तथा महिला छात्रों के बीच सम्पर्क लगभग नहीं के बराबर था। पुरुषों के विशेषाधिकार के नाते उन्होंने उस काल में महादेवीजी को देखा था और वे उन्हें पहचानते थे, अपने बाहर चलने फिरने की सीमाओं के कारण महादेवीजी को शायद उनकी याद न हो।" (पृ. ८३)

प्रो. चतुर्वेदी इस अवसर पर अपनी टिप्पणी देते हुए आगे बढ़ते हैं – "इलाहाबाद के दो अत्यन्त विशिष्ट सहकर्मियों का युगों-युगों बाद दिल्ली के मंच पर यों मिलन और अभिज्ञान अपने आप में जैसा कोमल और नाटकीय था वैसा ही श्रोता-दर्शकों के लिए प्रभावपूर्ण। पर नाटकीयता यहाँ रुक गयी या कि कहें अनाटकीयता में बदल गयी। अभिज्ञान एक ही पक्ष की ओर से था, दूसरी ओर से नहीं। जब महादेवी अपने उद्घाटन-व्याख्यान के लिए खड़ी हुईं तो हम सब लोग सोचते रहे कि देखें वे अपने सहपाठी को किस रूप में पहिचानती हैं, जो प्रधानमन्त्री का सचिव होने के नाते इस समय सम्पूर्ण सत्ता का मूल है। पर एक घंटे के अपने धाराप्रवाह भाषण में उन्होंने श्री विद्याशंकर का, कहीं कुछ जिक्र नहीं किया, जैसे वे कुछ बोले ही न हों या कि मंच पर ही न हों। सिवा इसके कि भाषण के आरम्भ में शिष्टाचार के कुछ शब्द उन्होंने कहे। सचिव को न पहिचानना, जबकि पहल उन्होंने की हो, यह उस विशिष्ट व्यक्ति के प्रति लगभग अवमानना जैसा था। होता ऐसे अवसरों पर यह है कि लोग सत्ता के व्यक्ति से किसी न किसी तरह पहिचान निकालते हैं – बहुत बार तो बादरायण शैली में – पर यहाँ उल्टा हो रहा है। सत्ता पहिचान रही है – बड़ी आत्मीयता और निष्ठा के साथ, और इलाहाबाद का लेखक दिल्ली की इस पहिचान को अंगीकार नहीं कर रहा। विद्याशंकर चाहें तो महादेवी को क्या कुछ नहीं दे सकते, पद्म पुरस्कारों से लेकर साहित्य अकादमी की अध्यक्षता या कि राज्यसभा की सदस्यता, पर लेने वाला पराङ्मुख है, या कि लेने वाला नहीं। सभा समाप्त होने पर वापसी यात्रा के समय कार में मैंने पूछा महादेवीजी से कि श्री शंकर ने आपका इतने आत्मीय ढंग से उल्लेख किया और आपने कुछ कहा नहीं। उन्होंने उत्तर दिया कि मैंने उसके संस्मरण को याद करने की बहुत कोशिश की, पर कुछ ध्यान में ही नहीं आया तो झूठी पहिचान कैसे बताती? यह था सत्ता के प्रति महादेवी जी का रुख, निर्भीक और लगभग शालीन।" (वही, पृ. ८३-८४)

'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' नामक अपनी पुस्तक में चतुर्वेदीजी महादेवी वर्मा के विषय में कहते है – "महादेवी का कृतित्व इस युग के अन्य कवियों की तरह ही व्यापक पुनर्जागरण चेतना से जुड़ा हुआ है।" (वही, पृ. १५७) छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की रहस्यानुभूति और उनके व्यापक मानवीय दृष्टिकोण के प्रभाव की बात स्पष्ट है।

उनकी मृत्यु पर शोकगीत लिखती हुई महादेवी वर्मा कहती हैं –

अर्चना-सी, आरती-सी यह विदा-बेला।

इसे उद्धृत करते हुए चतुर्वेदीजी लिखते हैं – "पुनर्जागरण के सूर्यास्त होने पर महादेवी यों दीपशिखा की भाँति प्रज्ज्वलित रही हैं।" (पृ. १५९)

भारतीय समाज – विशेषतः हिन्दी समाज जिन कठोर रूढ़ियों की शृंखला में जकड़ा हुआ था, उनमें जाति तथा बाल-विवाह, सती-प्रथा, विधवा-विवाह का विरोध मुख्य हैं। सती-प्रथा का विरोध करने में बंगाल में राजा राममोहन राय को सफलता मिली। बंगाल में इन सब रूढ़ियों के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया हुई। समाज सुधारकों और बुद्धिजीवियों में बहस मुबाहिसे हुए। हिन्दी प्रदेश के प्रबुद्ध लेखकों-कवियों का यह हाल था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सहयोगी 'प्रेमघन' ने महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह का समर्थन करने वाली पंडिता रमाबाई को 'पापिष्ठा' घोषित करते हुए लिखा, 'भला पापिष्ठा रमाबाई का धर्मोपदेश कोई सच्चरित्र धर्मनिष्ठा आर्य ललना क्योंकर मान सकती है, जबकि वह स्वयं अपने को हिन्दुबाला का आदर्श न बना सके, वह सौ विधवाओं का आश्रम क्यों न बनावे, कब कोई आर्य साध्वी उसमें पदार्पण उचित समझेगी?" (प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ. २१७)

भारतेन्दु मंडल में सर्वाधिक प्रगतिशील विचार वाले थे बालकृष्ण भट्ट। वे बाल-विवाह के विरोधी थे। १८९१ में 'सहवास' (एज आफ् कन्सेंन्ट बिल) पास हुआ। उसमें कन्या के विवाह की न्यूनतम आयु दस वर्ष से बढ़ाकर बारह वर्ष की गयी थी। महाराष्ट्र में 'स्वराज' को जन्मसिद्ध अधिकार घोषित करने वाले बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में कहा गया, "म्लेच्छों को हमारी संस्कृति में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है।" १८९२ में बनारस में दस हजार रूढ़िवादियों की रैली में सनातन धर्म और विक्टोरिया महारानी की जय के नारे लगाये गये। बालकृष्ण इस सोशल 'कान्फरेन्स' (महाराष्ट्र) के विरोध में तिलक के समर्थक थे। विधवा-विवाह पर उनकी टिप्पणी ध्यातव्य है – "पतिव्रता विधवाओं का स्वयं जल जाना और मदनातुर विधवाओं का अपने मन से विवाह कर लेना तो दोनों बराबर उत्तम है परन्तु विधवा मात्र को जबर्दस्ती जला देना या उनका पुनर्विवाह करवा देने का रिवाज फैलाना दोनों बराबर एक से बुरे हैं।" (हिन्दी प्रदीप, जन-मार्च १८९३, पृ. १६)

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने १९१८-१९ में 'विधवा' कविता लिखी। इस कविता में उन्होंने विधवा को 'इष्ट देव के मंदिर की पूजा' के समान पवित्र बताया और कहा कि विधवाओं के अश्रुजल के कारण ही भारत का गौरव नष्ट हुआ। निराला बंगाल में न रहे होते तो 'विधवा' कविता की रचना सम्भव नहीं हुई होती।

महादेवी वर्मा की दो कविताएँ उल्लेखनीय हैं। १९२३ में महादेवी की 'विधवा' कविता 'चाँद' में प्रकाशित हुई। निराला की कविता की तरह महादेवी की 'विधवा' का शिल्प सुगठित नहीं है किन्तु 'विधवा बनने' को किस प्रकार युवतियाँ विवश की जाती रही हैं, इसका जीवन्त

चित्रण महादेवी की कविता में मिलता है। वृद्ध पुरुषों की काम-पिपासा इसके मूल में है। इसे **महादेवी इस प्रकार** बताती हैं -

स्वयं साठ के होने पर भी विषय-वासना से जलते।
प्रिया-वियोग कठिन लगता है मरघट के मग में चलते।
पाकर किसी नवल कलिका को वृद्ध भ्रमर हरषाते हो।
होगा क्या भविष्य कलिका का, नहीं ध्यान में लाते हो।

इस लम्बी कविता के अन्त में महादेवी जी 'दीनबंधु' विरुद धारणकर्त्ता भगवान को ही चुनौती दे डालती हैं -

दीनबंधु ! यदि नहीं कभी तुम इनकी ओर निहारोगे
देवपीड़िता विधवाओं का दारुण कष्ट निवारोगे
पापमूर्ति बन जायेंगी, हैं जो पावनतामूर्ति अभी

'देवपीड़िता' में व्यंजित पीड़ार्जनित व्यंग्य की धार विचारणीय है। महादेवी कहती हैं कि इनका अन्त तो 'पापमूर्ति बन जाने' में होगा और भगवान का क्या होगा?

तुम भी होगे हीन, नहीं पाओगे उन्नति कीर्ति कभी।

निराला की 'विधवा' के अश्रु से 'भारत का सर गया'। महादेवी की चुनौती है कि भगवान की सर्वसत्ता ही दाँव पर लगी है। ईश्वर की परमशक्तिशाली और परम करुणासम्पन्न होने की अवधारणा ही ध्वस्त हो जायेगी, अगर विधवाओं का जीवन इसी तरह अभिशप्त होता रहा।

जो पापमूर्ति बन गयी हैं – या बना दी गयी हैं – उनको ध्यान में रखकर महादेवी कहती हैं – "जिन स्त्रियों की पाप-गाथाओं से समाज का जीवन काला है, जिनकी लज्जाहीनता से जीवन लज्जित है, उनमें भी अधिकांश की दुर्दशा का कारण अर्थ की विषमता ही मिलेगी।"

'अर्थ' की विषमता - अर्थात् कुछ थोड़े से केन्द्रों में धन की उमड़ती हुई बाढ़ और अगणित पेटों में भूख की धधकती ज्वाला दोनों पर महादेवी की निगाह है। 'रामा' और 'सबिया' के सन्दर्भ में लिखे गये महादेवी के वाक्य उनके मर्म की व्यथा बताते हैं। "भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।" (रामा)

अगणित लोग भूख से जल रहे हैं, उसके पीछे किसकी भूमिका है? महादेवी इसकी पहचान कराती हुई सबको कटघरे में डाल देती हैं- "यदि दूसरों के धन को किसी न किसी प्रकार अपना बना लेना चोरी है तो मैं जानना चाहती हूँ कि हममें कौन सम्पन्न महिला 'चोर पत्नी' नहीं कही जा सकती?"

स्त्री-जागरण के प्रश्न को इसी आर्थिक विषमता से जोड़कर देखती हुई महादेवी लिखती हैं – "कृषक तथा अन्य श्रमजीवी स्त्रियों की इतनी अधिक संख्या है कि बिना उनकी जागृति

के हमारी जागृति अपूर्ण रहेगी और हमारे स्वप्न अर्थहीन समझे जायेंगे।" स्त्री-जागरण जिन के लिए एक 'सामाजिक कार्य' या 'नारा' है, उनको ध्यान में रखकर महादेवी कहती हैं – "स्त्री को जगाने का प्रयास करने वाले भी इसी संदेह में रहते हैं कि यह जाति सो रही है या मृत हो चुकी है, जिसकी जागृति स्वप्नमात्र है।" (वही, पृ. ३६५)

आज 'स्त्री-विमर्श' के ज्वलन्त युग में अतिसक्रिय पुरुष 'स्त्री-मुक्ति' के नाम पर उसको 'देहमात्र' और 'देह की स्वामिनी स्वयं' को समझने का चतुराई भरा खेल खुल कर खेल रहे हैं, उनके मन में भी कहीं वही धारणा बद्धमूल है, जिसकी ओर महादेवी वर्मा का संकेत है।

इधर 'महादेवी वर्मा की रहस्यानुभूति' की 'नयी' 'आधुनिक' और 'स्त्रीवादी' व्याख्याएँ भी सामने आ रही हैं। उनको विशेष सावधानी से देखने की जरूरत है।

महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण साहित्य एवं 'महीयसी महादेवी' का 'दर्पदीप्त व्यक्तित्व' जिस 'परम सत्ता' को सम्बोधित है, उसके प्रति प्रार्थना कातर नहीं है। वह अपनी धरती की ठोस सच्चाई, नश्वरता, लघुता, अपार साहस, अडिग आस्था के साथ मिटने के अधिकार और मिटकर रचने के अधिकार का उद्घोष है। पराधीन भारत की स्वाधीन चेतना का घनगर्जन है।

प्रसाद के नाटक : अभिनेयता और रंग शिल्प

– संजय कुमार सिंह

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल (गद्य-साहित्य) के द्वितीय उत्थान के भीतर विभिन्न भाषाओं के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद का कार्य बड़े पैमाने पर सम्पन्न हुआ। कुछ मौलिक प्रहसन और नाटक लिखे अवश्य गये पर उनमें रंग-कर्म की विशेषताएँ प्रकट नहीं होती थीं। अपने मौलिक नाटक 'प्रभास-मिलन' में अवश्य बलदेव प्रसाद मिश्र ने प्रसंगों का सहृदयतापूर्वक उपयोग किया है। परन्तु अन्य समकालीन नाटकों में प्राय: ऐसा नहीं हो सका है। इस सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद के 'करुणालय' का प्रयोग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। शुनः शेफ की कथा पौराणिक है और कई दृष्टियों से एक विराट् मिथक-चक्र का हिस्सा है। प्रसादजी ने इस दृश्य-काव्य को उसी तरह गीति-नाट्य के ढंग पर लिखा है जिस तरह कुछ सामयिक प्रयोग बांग्ला गीति-नाट्य में हो रहे थे। लेकिन इस गीति-नाट्य में वैसी नाटकीयता नहीं है जैसी रवीन्द्रनाथ ठाकुर में दिखायी पड़ती है। प्रथम दृश्य में हरिश्चन्द्र का लम्बा आत्मसंवाद प्रकृति के दृश्य के साथ मन के एकालाप का आभास तो देता है पर वह काव्यात्मक अधिक है, नाटकीय कम। ज्योतिष्मान् और हरिश्चन्द्र का संवाद कभी प्रकृति और कभी परिस्थिति का संकेत भर देता है। नेपथ्य में गर्जन के साथ जैसे पुत्रबलि का दिया हुआ वचन अभिशाप और दण्ड का भाग्यहत् आभास बन कर प्रकट होता है। फिर इसी सन्दर्भ में हरिश्चन्द्र के मन का उद्‌बोध भी प्रकट किया गया है। अपनी ही प्रतिज्ञा से पिछड़ जानेवाले मन का संताप रंग-दृष्टि से अलग हट कर अगले द्वितीय दृश्य में महत्त्वपूर्ण कथा-बन्ध की तरह प्रकट होता है।

अजीगर्त के पुत्र शुनः शेफ को मनुष्यबलि के रूप में खरीदने की यह कथा निश्चय ही आर्य समाज में अपने ढंग की पहली कथा है। ब्राह्मण पुत्र का दास के रूप में बलि के लिए खरीदे जाने की यह कथा नाटकीय भी है और जातीय करुणा की एक मार्मिक अभिव्यक्ति भी। पाँचवें दृश्य में यज्ञ-मण्डप, रोहित, वसिष्ठ होता आदि के बीच यूप में बँधा हुआ शुन : शेफ निश्चय ही दृश्य के योग्य मंच प्रस्तुत करता है लेकिन संवाद में जो आधुनिक गठन बाद में चलकर प्रकट हुआ, वह यहाँ दिखायी नहीं पड़ता। तनाव और मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व के चित्रण के लिए संवाद की रंग-योजना बदलने की अपेक्षा हो सकती है। फिर भी गीति-नाट्य की अपेक्षित शक्ति और सम्भावना का आभास तो यह देता ही है। इस सम्बन्ध में दशरथ ओझा ने इसमें कथा की सम्भावनाएँ तो देखी हैं पर नाटक की सम्भावनाएँ उन्हें यहाँ नहीं दिखायी पड़ती। [१]

प्रसाद के नाटकों पर जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने चरित्र-सम्बन्धी परिकल्पना को केन्द्र में रख कर जो विचार प्रकट किया है उसमें करुणालय निश्चित रूप से नहीं अँट पाता। वे इसे एक प्रयोगात्मक प्रयास तो मानते हैं पर स्वयं प्रसाद जी के सन्दर्भ में उसका प्रातिनिधिक महत्त्व स्वीकार करते हैं। [२]

चरित्र और रंगभाव के सम्बन्ध पर विचार करते हुए हम इस कथा के मिथकीय स्रोत और मानवीय करुणा के पक्ष को थोड़ा नजदीक से देखें तो ऐसा लगेगा कि प्रसादजी की करुणा बलिदान के क्रूर कर्म के परिप्रेक्ष्य में केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं रखती बल्कि जातीय जीवन-दृष्टि, जीवन-पद्धति और प्रचलित व्यवहार के विरुद्ध अकेली पुकार की तरह सुनायी भी पड़ती है। शुनः शेफ का नियति के सामने यह अकेला प्रार्थना-स्वर हिन्दी साहित्य में तो फिर कभी सुनायी नहीं पड़ा। वैसे शुनः शेफ की कथा पर बाद में कई काव्य लिखे गये। पर प्रसादजी ने इसमें जो नाटकीय सम्भावनाएँ देखी थीं उसका समुचित उपयोग उनके बाद नहीं हो सका। सम्भव है कि आगे चलकर इस गीति-नाट्य की अभिव्यक्ति की ओर रंगकर्मियों की दृष्टि जाये और वे उसमें एक उदात्त, पर छिपी हुई परिकल्पना को अपने कठिन प्रयास से साकार कर सकें।

'कल्याणी-परिणय' को प्रसादजी ने फिर से लिखकर उस कथा-प्रसंग को एक नया रूप दिया है। स्पष्ट है कि उसमें जो कथात्मक आकार था वह 'कल्याणी-परिणय' के एकांकी रूप में सधता न था। ऐसी स्थिति में 'कल्याणी-परिणय' पर अलग से विचार करने की स्थिति में हम नहीं रह जाते। हम अधिक से अधिक इस सन्दर्भ में इतना ही कहेंगे कि घटना, चरित्र और देश के आकार की यह कथा किसी एक दृश्य-क्रम में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। एकांकी के आकार में वह केवल एक प्रेमकथा बनकर रह जाती थी जिसका कोई जातीय स्वरूप प्रकट नहीं होता था। न चरित्र और न रंग-बन्ध सधता था और न परिस्थितिवश रंगमंच की परीक्षित पूर्णता ही प्रकट होती थी। यही कारण है कि इन पर विस्तार से विचार करने की स्थितियाँ नहीं बन पायीं। इनका केवल उल्लेख भर किया जाता है। हमने इनके रंग-रूप पर यथासम्भव विचार किया है।

गीति-नाट्यों के लिए रंगमंच हिन्दी में अब तक बना ही नहीं। यह तो 'कनुप्रिया' के कतिपय मंचनों की सफलता के बाद हमारे ध्यान में आया कि ऐसे विषय भी मंच और रंग-कर्म की सम्भावना रखते हैं। हमने देखा कि नाटकों में मराठी के 'माड़े' गीत-पद्धति का बड़ा ही सफल प्रयोग 'घासीराम कोतवाल' आदि में हुआ है। लोककथा की अनेक गीतिशैलियाँ मंचीय सम्भावनाएँ रखती हैं। इसे बीस वर्षों के रंग-प्रयोग में हमने ढूँढ़ निकाला है। प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों को लेकर भी ऐसी प्रयोगात्मक सम्भावनाएँ बनती हैं या नहीं यह तो उनके संयोजन के बाद ही कहा जा सकता है। लेकिन हमारा विश्वास है कि थोड़े परिवर्तन के साथ इन नाटकों का भी रंग-प्रयोग होना सम्भव है। इस दिशा में बालस्वरूप राही, भारतरत्न भार्गव आदि के रंग-प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि प्रसाद के गीति-नाट्यों की रंग-सम्भावनाएँ चुक नहीं गयी हैं।

गीति-नाट्य के रंग-प्रयोग पहले नहीं हो सके और आज भी नहीं हुए, यह हमें

ज्ञात है। पर, इधर 'कामना' का रंग-प्रदर्शन दिल्ली से दिल्ली विश्वविद्यालय के अनौपचारिक मंच से हुआ जिसमें ऐसे रंगकर्मियों ने हिस्सा लिया था जिनका रंगानुभव नहीं के बराबर था और प्रसाद के नाटकों के सन्दर्भ में तो वह एकदम ही पूर्व-प्रायोजित नहीं था। ये दोनों स्थितियाँ रंग-प्रयोग को गम्भीर चुनौती बना रही थीं फिर भी उसका मंचन हुआ और काफी सफलता पूर्वक हुआ।

प्रसाद के नाटकों में भावधारा के विकास की एक निश्चित पृष्ठभूमि है। यों तो उन्होंने 'उर्वशी-चम्पू' में ही अपना पहला प्रयोग किया था पर 'कामना' में आकर एक सम्पूर्ण नाटक अपने संयोजन में सामने आया। 'कामना एक' भावप्रधान नाटिका है जिसकी रचना सन् १९२३-२४ में ही हो गयी थी लेकिन इसका प्रकाशन सन् १९२७ में हुआ। कुछ लोग इसे 'प्रबोध चन्द्रोदय' (कृष्ण मिश्र) की अन्योक्ति पद्धति पर आधारित मानते हैं। यह एक प्रचलित मान्यता है। हमारे नये विश्लेषण के अनुसार यह एक प्रतिकात्मक रूपक है। चाहे इसे हम जिस रूप में भी स्वीकार करें पर इस नाटक में एक काल्पनिक फिर भी अपने वस्तु-संकेत में भरी-पुरी व्यवस्था के साथ इसकी नाटकीय अन्तर्वस्तु संयोजित है जिसे इनकार नहीं किया जा सकता। आचार्यों ने इसे रूपक पद्धति पर पहली हिन्दी नाट्य-रचना कहा है जो एक नवीन नाट्यधारा की प्रवर्तिका भी है। पर वीरेन्द्र नारायण का यह निश्चित मत है कि प्रसाद के किसी भी नाटक में प्रतीक निर्णयात्मक महत्त्व नहीं रखते। फलतः उनका प्रदर्शन प्रतीकवादी दृश्य-बन्ध पर उचित नहीं, आकारवादी दृश्य-बन्ध पर ही उपयुक्त होगा।[3]

प्रतीकवादी दृश्य-बन्ध और आकारवादी दृश्य-बन्ध के सन्दर्भ में हमें यहाँ यह कहना अनुचित नहीं लगता कि अभी श्रीराम सेन्टर, नयी दिल्ली से 'कामना' का जो मंचन हुआ उसके सम्बन्ध में श्री ब. ब कारंत ने यह लिखा कि उसमें स्वच्छन्द दृश्य-बन्ध के लिए उन्हें विशष सुविधा मिली क्योंकि वह प्रतीक और आकार को सम्मिलित रूप में संयोजित करने की रंगक्षमता रखता है। स्वयं प्रसाद कल्पना की आँखों से ही कथ्य को कहाँ देखते हैं और कहाँ वे उसका वस्तु-नियोजित वृत्त-रंग के बन्ध के रूप में देखते हैं, इसका निर्णय अभी होना है। वीरेन्द्र नारायण की सम्मति के ठीक विपरीत लक्ष्मीनारायण लाल की मान्यता है कि प्रसादजी ने नाटक का रूपबन्ध और रंगमंच का पूरा विधान सीधे पारसी थियेटर से लिया है।

इन विपरीत मान्यताओं के साथ जो एक नया प्रयोग किया गया है वह मिश्र रंगबन्ध का है जिसमें रूपक को केवल संकेतों से न गढ़ कर एक व्यवस्थित नाट्य-दृष्टि से संयोजित किया गया है। यह भी हमें ध्यान में रखना पड़ता है कि इन सबका परिप्रेक्ष्य और औचित्य क्या है? इसके लक्ष्य और प्रयोग की सीमा क्या बनती है तथा उसका परिणाम क्या निकलता है ? निश्चय ही कथा की वस्तु एक संकेत है। पर, इस संकेत-वस्तु को कथानक में रूपान्तरित करने के लिए जो पहला एवं दूसरा दृश्य है, हम

यहाँ उसकी योजना पर दृष्टि केन्द्रित करेंगे। पहला दृश्य एक ऐसे फूलों के द्वीप और समुद्र के किनारे का रंग-स्थल प्रस्तुत करता है जिसमें सखियों का समवेत स्वर सुनायी पड़ता है। सखा-सखि का यह सम्मेलन, द्वीप का यह वातावरण, चारों ओर फैला हुआ यह समुद्र जो क्षितिज से कहीं-न-कहीं मिलता है, आकारिक नहीं बनाया जा सकता है। इसे तो अनिवार्यतः काल्पनिक संकेतों से ही प्रस्तुत किया जा सकता है। उषा के साथ जागरण की लाली, शान्ति का एक निरन्तर संगीत इस जागरण वेला में कामना के मन में विचित्र द्वन्द्व उत्पन्न कर देता है। सन्तोष कहीं सुन्दर होकर भी दूर है। आलस के विश्राम का स्वप्न दिखानेवाला यह सन्तोष अकर्मण्यता का समानार्थक कामना की मानसभूमि पर वातावरण का यह संघात बड़ा सांकेतिक है। कामना स्वयं से ही पूछती है – इस समुद्र में इतना हाहाकार क्या है? स्वयं उसका मन इस समुद्र की तरह जैसे हाहाकार करता है। यह कैसा संकेत है? कथा में इसका निबन्धन जिस रूप में भी हुआ हो पर संकेत रूप में यह एक जीवित कामना है। कामना के भीतर वह कौन-सी आकांक्षा है जिसे कोई रोक रहा होता है। यह एक प्रतीक-स्थिति है। दूर वंशी की ध्वनि के साथ एक स्थिर दृष्टि युवक दिखायी पड़ता है। कामना सारे फूल उठाकर उस पर बिखेर देती है। युवक स्वर्ण-पट खोलकर उसके सिर पर बाँध देता है। दृश्य यहाँ समाप्त दिखाया गया है। कामना के भीतर जिस दुर्निवार आकांक्षा की चर्चा प्रसादजी ने यहाँ की है, उससे सहसा रविबाबू की 'रक्तकरबी' की नन्दिनी का स्मरण हो आता है जहाँ वह इसके लिए एक दूसरा प्रतीक गढ़ती है – पानी के भीतर की पतवार जिस प्रकार ऊपर के आसमान के पाल को प्यार करती है – पाल में हवा का गान लगा रहता है और पतवार में तरंगों का नाच।

प्रसादजी इससें कौन-सा संकेत देना चाहते हैं? कामना युवक पर निसर्ग लुटा रही है। युवक उस पर शक्ति, सम्पत्ति और राज्य एवं उसके वैभव का प्रतीक स्वर्ण-पट बाँधता है। यहाँ संकेत के लिए रूप के दोनों बिन्दु सहज ही प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं-न-कहीं इसका सम्बन्ध पूरे नाटक के कथ्य से है जिसमें महाभारत और ईशोपनिषद् के दो उद्धरण दिये गये हैं। प्रसादजी ने इसमें आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता, पतनशीलता, विद्वेष-बुद्धि और स्वार्थपरता की विभीषिका और नैसर्गिक विवेकशील व आत्म-संतोषी संस्कृति का आदर्श प्रस्तावित किया है जैसा कि जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव बताते हैं। [४]

यहाँ यह भुला दिया गया है कि जिस संकेत को हम यहाँ कथ्य का रूपक बना रहे हैं वह उतना निश्चित नहीं है जितना हम मानते हैं। समुद्र का किनारा और फूलों के द्वीप में कम-से-कम पहले दृश्य में तो आधुनिकता और उसके अन्तर्विरोध का ऐसा कोई संकेत ग्रहण होता ही नहीं है। दूसरे दृश्यों में भी स्थान एक वृक्ष-कुंज है, जहाँ एक परिवार बैठा बातचीत कर रहा होता है। एक स्त्री प्रवेश करती है और सूचना देती है कि समुद्र के उस पार से एक युवक आया है। चूँकि इस द्वीप में किसी नये

का प्रवेश वर्जित है इसलिए यह एक नयी घटना है – 'निसर्ग की व्यवस्था में सम्पत्ति का हस्तक्षेप।' उसने एक स्वर्णपट लाकर इस व्यवस्था में हलचल पैदा कर दी है। धर्मवीर भारती के एकांकी 'नीली झील' में यही रूपक एक और जटिल संकेतबन्ध के साथ प्रकट होता है – नीली झील उसके बीच अनन्त आत्माएँ और उन पर सम्मोहन करनेवाला एक क्रूर तान्त्रिक जिसका जादू धीरे-धीरे मिटता चला जाता है। निश्चित रूप से इन दोनों प्रतीक रूपकों की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। यही नहीं 'अन्धायुग' की ओर भी ध्यान जाना चाहिए जिसमें रक्त-सम्बन्धों की एक नयी दुनिया का नारा होता है और सम्पत्ति की नयी व्यवस्था विराट् युद्ध और नाश में प्रकट होती है। इनके साथ कुछ आलोचकों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीति-नाट्य 'रक्तकरबी' का भी उल्लेख किया है। 'रक्तकरबी' में भी अतीत और वर्तमान की क्रान्तिकारी अन्तर्ध्वनियाँ हैं। जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव के अनुसार इसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समसामयिक बहिर्मुखी सभ्यता और शासनतन्त्र के दोषों का दिग्दर्शन कराया है और उसका आदर्शात्मक समाधान किया है। यहाँ भी यक्षपुरी के अधिपति को स्वर्णसंग्राही दिखाया गया है, प्रजा को दुःखी बताया गया है। और दासता को परिस्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भी नन्दिनी (नायिका) फूल लेकर जाती दिखायी गयी है। इसके विपरीत राजा नन्दिनी के प्रणयी को मार कर उस पर अपना अधिकार करना चाहता है। अन्ततः राजा का हृदय परिवर्तन दिखलाया गया है। इस संक्षेपण को अन्तर्वस्तु कहना तो सर्वथा अनुचित होगा पर इससे कथाबंध का सांकेतिक आधार अथवा रूपक स्पष्ट हो जाता है। पंत की ज्योत्सना (गीतिनाट्य) को भी इस प्रसंग में समेटे तो इनसे एक व्यापक भावभूमि भारतीय नाटकों में प्रकट दिखायी पड़ेगी। इस प्रकार के रूपक और रूपक प्रधान नाटक बांग्ला, हिन्दी, मराठी, गुजराती में इस कालखण्ड में बड़ी मात्रा में लिखे गये हैं। निश्चय ही इनका सामयिक विचारधारा से और अन्ततः भावधारा से सम्बन्ध रहा है। 'कामना' से इस विश्लेषण की पुष्टि होती है।

प्रसादजी के 'एक घूँट' में भी एका सम्बन्धवाचक रूपक है। आनन्द और प्रेमलता का इस सम्बन्धवाचकता से सम्बन्ध है किन्तु उसमें एक तीसरा तत्त्व भी वर्तमान है जिसकी स्थिति रसाल के शब्दों में इस प्रकार है – 'मैं भी जानने की 'स्मरण करने की' ही वस्तु होऊँ तब न। अच्छा तो है, तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिए स्मरण करने की वस्तु है।' त्रिकोणवाली इस कथा में सम्बन्ध की अलग-अलग स्थितियाँ दिखायी पड़ती हैं। प्रसादजी के लिए यह मूल आकर्षण का विषय है। सौन्दर्यवादी कवि और भाववादी विचार के रूप में उनकी यह स्थिति क्या सचमुच ही कविता और नाटक में अलग-अलग मार्गों से प्रकट होती है?

प्रसादजी जीवन को विश्व-चेतना की आकारिकता में देखते हैं। सौन्दर्य और आनन्दमयी प्रेरणा की चर्चा करते हैं। उसके आत्मवाद में निर्विशेष रूप से रहने का विशेष ज्ञापन करते हैं। वे सरलता और मोह-मूलक अधिकार को परस्पर विरोधी मानते

हैं। आत्मभाव का यह निर्वैयक्तिक आदर्श एक बड़ा कठिन जीवन-माप बन जाता है। हमें लगता है कि इसकी अनुगूँज कला के निर्वैयक्तिकता वाले सिद्धान्त में भी है जिसकी चर्चा टी. एस. इलियट ने भी की थी। कला की महानता को लेकर यह आदर्श एक घूँट में क्या केवल ध्वनित होता रहता है या प्रतिफलित भी होता है? यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रसादजी आनन्द का अन्तरंग सरलता में और बहिरंग सौन्दर्य में ढूँढ़ते हैं। ऐसा नहीं है कि इस व्यवस्था में दुःख की स्थिति में दुःख है और उसके नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

मूल सत्ता में आनन्द की प्रेरणा आश्चर्यप्रद भी है, रहस्यात्मक भी है और सचमुच प्रेरक भी। इस प्रकार रचना की दृष्टि स्थिर कर लेने के बाद जब हम उसके रंग-सौन्दर्य की परिकल्पना करते हैं तब हमें ऐसा लगता है कि प्रसादजी कर्मयोग और आनन्द को स्वच्छन्दता के एक नये परिपथ से गुजरने दे रहे थे। यह जमीन आधुनिक सप्रश्न जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हो सकती है। आज हम जीवन में प्रेम का केन्द्र कहाँ ढूँढ़ पाते हैं? प्यार करने के लिए हृदय का जो साम्य चाहिए, अन्तर की समानता चाहिए वह आज स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के भीतर सचमुच ही उपलब्ध नहीं हो पा रही है।

एक तरह से यह नाटक आधुनिक प्रहसन का एक नया बिन्दु प्रस्तुत करता है। इस बिन्दु पर संवाद, भाषा और अभिनय की नयी रंग-सम्भावनाएँ तो प्रकट होती ही हैं, सम्बन्धों की दुनिया के आधुनिक कथ्य के लिए भी एक स्पष्ट दृष्टि देती है। यह आश्चर्य की बात है कि बड़े-छोटे नाटकों के रंग-प्रयोग की चर्चा करते हुए भी इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथ्य वाले नाटक की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। शोधकर्त्ताओं की सूची में 'एक घूँट' लगभग गायब है। अधिकांश शोधकर्त्ताओं ने इसके नाट्यस्वरूप को अन्योक्ति कहकर विश्लेषण की धारा से अलग कर दिया है। परन्तु कुछ शोधकर्त्ताओं ने इस नाटक के शिल्प का सिर्फ उल्लेख भर करते हुए इसे विचारप्रधान सिद्ध करके जिस तरह प्रस्तुत किया है, उसे उसकी रंग-सम्भावनाओं का कोई प्रायोजित-अप्रायोजित रूप प्रकट ही नहीं होता। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इसके सम्बन्ध में आन्यापदेशिक (एलिगेरिकल) और अभ्यन्तर के खोखलेपन के मार्मिक उद्घाटन की जो बात कही थी वह आज भी लटके-झटके के साथ दुहरायी जाय इसका कोई अर्थ नहीं है। आज के सन्दर्भ में यह नाटक स्वयं प्रसाद के अन्य नाटकों से एक दूरी बना लेता है। यह दूरी केवल इसलिए नहीं है कि इसका विषय आधुनिक और प्रसाद का समकालिक है बल्कि इसलिए की यह स्वयं प्रसाद के अन्य नाटकों से सर्वथा अलग है। सन् १९२८ में लिखा गया और सन् १९३० में प्रकाशित यह नाटक भारतीय समाज के लिए अपनी समकालीनता बनाए रखने में समर्थ है, यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात है। व्यक्तिगत रूप से मुझे ऐसा लगता है कि इस नाटक का रंग-पाठ तैयार करते हुए बहुत थोड़े परिवर्तन से एक गम्भीर फार्स (प्रहसन) का उसी तरह संयोजन

किया जा सकता है जिस तरह ब्रेख्ट के नाटकों का किया गया है।

आधुनिक नाटकों के सन्दर्भ में इसका उपयोग और भी अधिक सम्भावनाशील हो सकता है। इधर 'हयवदन' आदि के प्रयोग में ऐसे समस्यात्मक नाटकों का एक सन्दर्भ तैयार हुआ है जिसका उपयोग प्रसाद के इस नाटक के लिए किया जा सकता है। यदि हम चाहें तो इसे एक एलिगरी भी बना सकते हैं और फिर भी इसके फार्स (प्रहसन) की रक्षा कर सकते हैं या चाहें तो बिना रूपक के इसे एक प्रायोगिक रंग-नाटक की तरह प्रस्तुत कर सकते हैं। यह ठीक है कि इसे हम एब्सर्ड कोटि का नाटक नहीं मानते मगर ब्रेख्ट के रंग-प्रयोग के निकट होने के कारण इसका आधुनिक मंच के लिए बेहतर उपयोग हो सकता है। 'सुनो जनमेजय' में भी जो समस्या का रंगाकलन है उससे भी इस नाटक का रंग-प्रयोग सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार रंग-प्रयोग के सन्दर्भ में प्रसाद के नाटकों के गाथात्मक और स्फुट स्वरूप की व्यवहारिक चर्चा के बाद हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य हैं कि ऐतिहासिक नाटकों के मंचन के साथ-साथ हमें प्रसाद के गीति-नाट्यों और 'एक घूँट' आदि लघु नाटकों को अलग-अलग मंचीय प्रयोग का विषय बनाना चाहिए। अभी तक हमारी जानकारी में 'एक घूँट' का मंचन नहीं हुआ है। हम आशा करेंगे कि हमारे रंगकर्मी और सचेत निर्देशक इस दिशा में भी अपनी उन्मुखता प्रकट करेंगे।

प्रसादजी की रंग-कल्पना इतिहास से ही नहीं जुड़ती बल्कि उस जातीय दृष्टि से भी जुड़ती है जिसका विकास पाँच हजार वर्षो में हुआ है। अगर हम प्रसादजी की मानें तो हमारी सैन्धव संस्कृति या सभ्यता तो और भी प्राचीन है। इस इतिहास में निरन्तर बनी हुई जीवन-दृष्टि के अनेक सन्दर्भ हैं – लौकिक भी और पारलौकिक भी।

प्रसादजी ने जब यह कहा कि 'रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है।' तब क्या वे इस मूल प्रश्न से जूझ रहे थे कि आत्मा का मूल अर्थ क्या है – तेज अथवा प्राण तत्त्व? यह प्राण तत्त्व केवल रूपान्तरित होता है तो यही कि रस-भेद में अभेद की प्रतीति है। इस क्रम में प्रसाद जी ने एक रोचक प्रसंग उठाया है। वे लिखते हैं – "सम्भवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध भी किया गया। क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्याभिज्ञान का साधन है, मिलन का द्वार है। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सक्ती है।" यहाँ भी बौद्ध दुःखवाद की स्थिति से आनन्दवाद को स्पष्टतः अलग करते हुए वे दिखलायी पड़ते हैं। उन्होंने आगे लिखा है–शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी जब रस की दोनों सीमाओं को छूते हैं अर्थात एक ओर शृंगार और दूसरी ओर शान्त की व्यंजकता को आनन्द का अंग बना देते हैं तब क्या वे समरसता की किसी मानवीय परिकल्पना से नहीं जुड़ते?

यहाँ इस प्रकरण को हम प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' जैसे नाटकों के सन्दर्भ में विशेष रूप से उपस्थित करना चाहेंगे। 'स्कन्दगुप्त' में शृंगार और करुणा का जो उदात्त संयोग है क्या उसमें भारतीय जीवन की कोई स्वाभाविक किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म चित्र-संरचना शामिल नहीं हैं? प्रसाद चरित्रों द्वारा इसी भोक्ता चरित्र की जीवन प्रणाली से साक्षात्कार करते हैं।

जब इस ऊँचाई पर जाकर प्रसाद के रंग-दर्शन को समझा जायेगा, तभी कोई अभिनेता प्रसादजी के स्कन्दगुप्त का अभिनय करने में सफल होगा। अभी दूरदर्शन द्वारा प्रस्तुत चाणक्य को जिस निर्वैयक्तिकता और कठोर वैयक्तिक आचरण के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया, उसमें चाणक्य के चरित्र की आन्तरिक परिकल्पना ही साकार नहीं हुई बल्कि संकटग्रस्त भारत की मनीषा का कृतसंकल्प भी मूर्त्त होकर सामने आया। प्रसाद अपने चन्द्रगुप्त नाटक में चरित्रों की शायद ऐसी ही परिकल्पना कर रहे थे पर उनके समय के रंगकर्मी 'रक्षाबन्धन' (हरिकृष्ण 'प्रेमी') के पात्रों के अधिक निकट थे या पश्चिमी चरित्रों की व्यंग्य और विडम्बना को अधिक तत्परता से ग्रहण कर सकते थे। भारतीय चरित्र के वास्तविक विस्तार को वे अपनी रंग-दृष्टि से उस समय भी जोड़ नहीं पाये थे। यही नहीं, यह स्थिति बहुत बाद तक बनी रही थी।

प्रसादजी की रचना-दृष्टि स्वच्छन्दतावादी थी क्योंकि उन्होंने इतिहास के सम्मुख शास्त्र के नियन्त्रण को बार-बार अस्वीकार कर दिया था। यही नहीं कि प्रसादजी कालिदास के प्रशंसक हैं बल्कि यह भी कि वे यह भी मानते थे-"आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं।" निश्चय ही यहाँ प्रसाद जी इस प्रश्न से जूझ रहे हैं कि रस और चरित्र में क्या ऐसा अन्तर्विरोध है कि दोनों में से किसी एक को ही चुन सकते हैं? चूँकि प्रसाद के नाटक चरित्र प्रधान है और उनके चरित्र विभिन्न मानसिक आकारों के हैं इसलिए स्वाभाविक है कि इस व्यक्ति वैचित्र्य के प्रश्न को भी किसी-न-किसी रूप में रससंगत करना पड़ेगा। प्रसाद के रंग-दर्शन की यह दूसरी जटिलता है। अनेक परवर्ती नाटकों में ठीक ऐसी ही समस्याएं चरित्रों को लेकर उभरी हैं। भावयोग की पूर्णता ही चरित्र को सजीव बनाती है। रोमाण्टिक दृष्टि हमें इसी पूणता की ओर से ले जाती है जहाँ विरोध में भी एकता की सम्भावना का निषेध नही होता। इस दार्शनिक निष्पत्ति के साथ रस और स्वच्छन्दता की समस्याएँ नये रूप में हिन्दी नाटककारों एवं रंगकर्मियों के सामने चुनौती की तरह प्रकट होती हैं। यह भी एक दुःखद-सी स्थिति ही है कि साठ वर्षों में भी हिन्दी रंगकर्मी प्रसाद की दृष्टि को समझकर भी उसे उपलब्ध नहीं कर सके हैं।

प्रसाद रचित 'जनमेजय का नागयज्ञ' एक पौराणिक नाटक है जिसका प्रकाशन सन् १९२६ में हुआ था। प्रसादजी ने मुख्यतः महाभारत के आधार पर इसके कथा-

सूत्र संगठित किये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण एवं हरिवंश पुराण में भी उन्हें इस विषय की सामग्री मिली है जिसकी चर्चा उन्होंने स्वयं प्राक्कथन में की है। प्रमुख घटनाएं एवं पात्र इतिहास-सम्मत हैं।

जनमेजय का अश्वमेध-यज्ञ करना, असितांगिरस काश्यप का जनमेजय के विरुद्ध नागों को भड़काना, उतंक का जनमेजय को बाह्य एवं अभ्यन्तर कुचक्रों के दमन के लिए उकसाना आदि उस नाटक के प्रमुख घटना-सूत्र हैं जिनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी प्रसाद ने प्राक्कथन में प्रस्तुत की है। घटनाओं एवं पात्रों के अतिरिक्त वंश भी ऐतिहासिक हैं। इसमें कुछ ही पात्र कल्पित हैं, जैसे – माणवक, त्रिविक्रम, दामिनी, शीला आदि। पर ये सारे कल्पित पात्र कथा-सूत्र के अनुकूल हैं और उसके विकास एवं परिणाम को परिणति तक पहुँचाने में महती भूमिका अदा करते हैं। ये सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं हैं।

इस नाटक के कल्पित पात्रों का चरित्र और व्यक्तित्व भी तत्कालीन समाज में मिलता है। भले ही कुछ पात्र एँवं प्रसंग लेखक की कल्पना का परिणाम हो, पर पौराणिक होते हुए भी उसकी जड़ें महाभारत काल के इतिहास में मौजूद हैं।

प्रसाद आर्य जाति के गौरव और प्रताप का चित्रण गहरी रुचि के साथ अपने ऐतिहासिक नाटकों में करते रहे हैं और उसी का एक निदर्शन एक रूपक भी है। वस्तुतः यह नाटक आर्य-युवकों – जिनका गौरवशाली प्रतिनिधि जनमेजय है – की मनस्विता का एक जीवन्त दृश्यालेख प्रस्तुत करता है। कहना न होगा कि यह सांस्कृतिक दृश्यालेख प्रसाद की राष्ट्रीय विचारधारा का ही एक पहलू है जिसके द्वारा वे जातिगत या साम्प्रदायिक वैमनस्य की भर्त्सना करके एक राष्ट्रवाद – जिसे आज भी भाषा में भावनात्मक एकता से सन्दर्भित किया जा सकता है – का आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते थे। आश्चर्य नहीं कि प्रसाद ने इस नाटक की रचना अथवा इसका अन्तिम परिशोधन करते समय सामयिक वातारण को भी संकेतित करने एवं उसे एक उदार सांस्कृतिक समाधान देने का उद्देश्य अपने सामने रखा हो।

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि इस नाटक में प्रसाद ने सर्वप्रथम आर्य-अनार्य विरोध की समस्या उठायी है। इससे पूर्व वे ऐतिहासिक नाटकों में माण्डलिक आर्य राजाओं और सामन्तों के आन्तरिक विद्वेष को केन्द्र में रखकर कथा-संरचना करते आये थे।

'नागयज्ञ' इस दृष्टि से प्रस्थानभेद का सूचक कहा जा सकता है, क्योंकि परवर्ती रचनाओं में आर्येतर जातियों के साथ आर्यों के संघर्ष का ही चित्रण किया गया है। प्रसाद की यह सांस्कृतिक दृष्टि उनके गौरवशाली राष्ट्रवाद की ही संपोषक है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक विचारप्रधान नाटक है। इसमें प्रसादजी ने पाठक के

समक्ष मूलभूत समस्या को बड़ी स्वाभाविक किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धति से रखा है। यह नाटक विवेच्य-काल की सभ्यता और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। नाग-आर्य संघर्ष तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष इसका प्रतिपाद्य है।

इन समस्याओं का विशद् चित्रण तो इसमें मिलता ही है साथ ही अन्य सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितयों पर भी सम्यक् प्रकाश डाला गया है। इससे यह भी पता चलता है कि उस समय अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था तथा उसे समाज की स्वीकृति भी प्राप्त थी। यह नाटक देशकाल का सम्यक् चित्र तो प्रस्तुत करता ही है साथ ही सामयिक समस्याओं के समाधान का भी संकेत करता है।

प्रसादजी के इस नाटक में भी 'अजातशत्रु' की तरह ही पात्रों की भरमार है परन्तु उससे अलग यहाँ प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पात्र के चरित्र की मौलिकता और उपयोगिता स्पष्ट लक्षित होती है। उसकी वृत्ति का आभास भी पाठक को मिलता है। उसका व्यक्ति-वैचित्र्य उसे मुग्ध करता है। पात्रों की भीड़ और प्रासंगिक घटनाओं की बहुलता के कारण 'नागयज्ञ' में चरित्र-चित्रण यद्यपि यथोचित नहीं हो सका है। फिर भी वैयक्तिक स्तर पर कतिपय चरित्र निश्चय ही बड़े जीवन्त हैं।

इस प्रकार तीन अंकों वाला यह नाटक एक ओर आर्य-अनार्य संघर्ष और दूसरी ओर ब्राह्मण-क्षत्रिय वैमनस्य की समस्याएँ सामने रखता है। समाधान के रूप में वह आर्यत्व और ब्राह्मण को आदर्श मानता है तथा उनकी उदात अवधारणा को रूपायित करता है। कहना न होगा कि प्रसाद की यह सुचिन्तित विचारधारा परवर्ती नाटकों में भी प्रायः ऐसे ही निष्कर्ष लेकर सामने आयी है।

रस की दृष्टि से इस नाटक का क्रियात्मक ताना-बाना वीर-रसात्मक है जबकि इसकी वैचारिकता इसे आरम्भ से ही शान्त की ओर उन्मुख करती रही है। इसी में इसका पर्यवसान भी हुआ है। वीर और शान्त रसों का यह द्वन्द्व पूरी कथा में विद्यमान है। आदर्श और परिणति की दृष्टि से शान्त को अंगी या समाहारी कह सकते हैं। घटनाओं की प्रकृति वीररसोपयुक्त अवश्य है किन्तु प्रमुख पात्रों का बार-बार नियति की दुहाई देना सारी कर्मठता को नगण्य-सा बना देता है। अन्य रसों के स्थल छिटपुट और महत्त्वहीन हैं।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में रंगमंचीय दृष्टि से नाटक के भीतर नाटक या दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की शैली भले ही अस्वाभाविक लगे किन्तु वैचारिक प्रदेय की दृष्टि से कृति के आधारभूत मन्तव्य को समझाने के लिए इसकी उपादेयता से इनकार नहीं किया जा सकता।

प्रसाद के अन्य नाटकों के समान इसका वस्तु-विन्यास प्रशस्त नहीं है। सम्पूर्ण विस्तृति को रंगमंच पर उतार लेने की आकांक्षा नाटकीय वस्तु-योजना को त्रुटिपूर्ण बना

देती है। उत्तर-काल की इस नाट्य-रचना के कथानक में नाटकोचित सम्भावनाएँ कम नहीं थी किन्तु उनके निर्वाह का शैथिल्य उन्हें महत्त्वहीन बना देता है। वस्ततुः प्रसाद इस कृति में कार्य आर्य–अनार्य, ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्षो का शमन–के प्रति सर्वाधिक सजग रहे हैं जबकि उनकी सहजवृत्ति अन्यत्र विरोध को केन्द्र में रख कर चलती रही है। विरोध के ताने-बाने की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं जा पाने के कारण ही इस नाटक में थोड़ा संरचनात्मक शैथिल्य आ गया है। इस नाटक में प्रसादजी की दृष्टि सर्वत्र ऐतिहासिक ही रही है। इतिहास की कथा पर जब कल्पना के रंग चढ़ा दिये जाते हैं तो वह साहित्यिक कृति बन जाती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' अतीत के इतिहास की भूमि पर एक परिष्कृत साहित्यिक रचना है।

प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' एक शुद्ध राजनीतिक नाटक है। मगर राजनीतिक वात्याचक्र में राष्ट्रीय संयोग का यह नाटक व्यक्तिगत बोलियों की अपेक्षा एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उद्‌भास अधिक देता है। चन्द्रगुप्त का चाणक्य केवल व्यक्तिगत प्रतिज्ञा को पूरा करने के निमित्त नहीं बना है। वह नाटक में बार-बार आर्यावर्त्त की रक्षा और जन्मभूमि की भलाई करने की उन्मुखता दिखाता है। राष्ट्र का शुभचिन्तन उसकी अन्तरात्मा का सुख है। सामान्यतः नाटक के राजनीतिक अन्तःसार की अपेक्षा चाणक्य की व्यक्तिमूलकता को, उसके व्यक्तिगत प्रतिशोध के मनोविज्ञान को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर महत्त्व दिया जाने लगा है। प्रसादजी के लिए चाणक्य चिन्तनशील पौर्वात्य मस्तिष्क के लिए सम्पूर्ण सन्तुलन का प्रतीक है। इसी सन्तुलन के कारण चाणक्य भारत की प्रतिरक्षा को एक निष्ठावान भारतीय की तरह अपना लक्ष्य बनाता है। भावनात्मक संयम और आन्तरिक ऊर्जा के साथ राजनीतिक लक्ष्य का यह मेल नाटक के विषय को मूर्त्त करता ही है, चाणक्य के चरित्र की विशेषता को भी प्रकट करता है।

निश्चय ही यह नाटक वस्तुगत प्रसंगों के बिना नहीं खेला जा सकता क्योंकि इसमें वस्तु का सम्बन्ध सीधे परिघटना से है। विदेशी आक्रमण और राजनीतिक अलगाव इस परिघटना के मुख्य तत्त्व हैं। प्रसादजी ने व्यक्तिगत और सार्वजनिक न्याय के सन्तुलन में जिस राष्ट्रीय चरित्र को साकार किया है उसकी परिकल्पना नाटक और रंगमंच के तात्कालिक समीकरण के बाहर है। रंगमंच की आवश्यकताओं को लेकर अगर यह नाटक लिखा जाता तो कैसा होता इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। यद्यपि प्रसादजी ने अपने जीवन काल में ही इस नाटक का रंगमंचीय आलेख तैयार किया था और जिसका मंचन भी काशी के 'रचनाकर रसिक मण्डप' द्वारा हुआ था परन्तु वह आलेख चार दशक तक पाण्डुलिपि के रूप में ही पड़ा रहा। रत्नशंकरजी के सत्प्रयास से प्रसादजी द्वारा तैयार किया गया 'चन्द्रगुप्त' का रंगमंचीय आलेख 'अभिनय चन्द्रगुप्त' के नाम से प्रकाशित हुआ।[५]

नैतिक और आत्मिक के साथ राष्ट्रीयता को इतिहास की आरम्भिक स्थिति तक

ले जाकर निश्चय ही प्रसादजी ने अपनी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा का परिचय दिया है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त का आकार हिन्दी नाटकों से मेल नहीं खाता है। आधुनिक नाटकों की अपेक्षा इस नाटक की संरचना संस्कृत के बड़े नाटकों से मिलती-जुलती है। यह ठीक है कि इस बड़े नाटक के लिए रंग-दृश्य की भव्यता अनिवार्य है। इसे अन्य नाटकों की तरह रंग-दृश्य से वंचित नहीं किया जा सकता। स्वयं प्रसादजी ने भी इसके लिए एक भव्य रंगमंच की कल्पना की थी।

चन्द्रगुप्त का अभिनेयता वाला पक्ष बहुत अधिक जटिल नहीं है। हाँ, चाणक्य की भूमिका केवल बाहरी सादृश्य से ही निभायी नहीं जा सकती बल्कि उसके लिए आन्तरिक परिवर्तन भी जरूरी है। उसके रंग-रूप का प्रसाधन बहुत जटिल नहीं है। लेकिन उसकी आन्तरिक कठोरता और निर्वैयक्तिकता को मूर्त्त करने के लिए केवल रंग-दृश्य ही काफी नहीं है। यह बात चाणक्य के नाम से प्रस्तुत धारावाहिक से भी स्पष्ट हो जाती है। इसमें निश्चय ही 'चाणक्य' के चरित्र की जटिलता ही उसका प्राण है। प्रसादजी की रंग-दृष्टि में इस चरित्र की प्रस्तुति निश्चय ही एक चुनौती रही होगी। दूरदर्शन धारावाहिक 'चाणक्य' के चाणक्य और इसके निर्देशक चन्द्र प्रकाश के लिए भी यह चरित्र एक सशक्त चुनौती से कम नहीं थी। इस तथ्य को उन्होंने अपने वक्तव्यों में बार-बार स्वीकार किया है। साथ ही उन्होंने इस पर किये गये अपने परिश्रम एवं परिवर्तन– आन्तरिक और बाह्य – दोनों की भी चर्चा की है और इन सबके बावजूद सामने आनेवाली सख्त कठिनाइयों को स्वीकारा है। इसके लिए आन्तरिक परिवर्तन करने में उन्हें तो काफी समय लगा ही साथ ही बाह्य परिवर्तन से तादात्म्य स्थापित करने में भी काफी दिक्कतों-झंझटों का सामना करना पड़ा, परिश्रम भी कम नहीं करना पड़ा।

'अजातशत्रु' प्रसादजी का दूसरा बड़ा नाटक है। इसमें 'अजातशत्रु' की कथा की पृष्ठभूमि में गौतम बुद्ध के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की कल्याणकारी भूमिका है। कोमल एवं कठोर का परिग्रह और त्याग का विचार तथा आदर्श का ऐसा उत्कट द्वन्द्वात्मक रूप इस नाटक का प्रिय विषय है। ग्रीक नाटकों में तो ऐसे प्रचुर विषय हैं जिनका सम्बन्ध इस मानवीय द्वन्द्व से है। गौतम बुद्ध के समय में भारत के चार बड़े राज्यों में मगध, कोसल, वत्स और अवन्तिका का नाम स्वाभाविक रूप से लिया जाता है। उत्तर महाभारत और रामायण काल से लेकर मगध के निरंकुश साम्राज्य के उदय के बीच तक का इतिहास प्रायः उपलब्ध नहीं है। इस दिशा में निरन्तर कार्य हो रहा है। इसी क्रम में बिम्बसार और अजातशत्रु के समय की यह कथा केवल राजनीतिक कथा नहीं है बल्कि तत्कालीन समाज की व्यवस्था एवं समग्र इतिहास दृष्टि की कथा भी है।

'अजातशत्रु' करुणा और निरंकुश साम्राज्य-भावना के बीच संघर्षों का भी एक जातीय इतिहास है। यह केवल धर्म की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, मानव मूल्य में

होने वाले परिवर्तनों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस मूल्य से जो नाटक का सार सामने आता है और उससे जो दृश्य बनता है वह कठिन रंगकर्म की माँग करता है। पुरुष और स्त्री पात्रों की एक लम्बी सूची है इस नाटक में। मूल पात्रों के अतिरिक्त इनमें दण्डनायक, अमात्य, दूत दौवारिक, अनुचरगण, कंचुकी, दासी, नर्तकी इत्यादि भी शामिल हैं। इतने बड़े नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करना रंगमंच और रंगकर्म दोनों के लिए एक खुली चुनौती है। चरित्र का विकास और वैचित्र्य इसकी अलग समस्याएँ हैं जिनसे इस नाटक की प्रस्तुति में जटिलता उत्पन्न होती है। यह जटिलता रंगकर्म की दृष्टि से है। कथा के लिए तो यह काफी कौतुकपूर्ण और अनुकूल है।

'अजातशत्रु' का मूल करुणा की विजय है। गौतम और वासवी दो अलग-अलग स्तरों के चरित्र हैं, किन्तु उसका त्याग करुणा के स्तर पर उन्हें बहुत पास-पास ला खड़ा करता है। सचमुच ही वह नारी के रूप में देवी है। अगर मल्लिका की बात मान लें तो कहना पड़ेगा कि स्त्रियों का कर्तव्य यह है कि पाशव वृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणापीड़ित करें। कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है – उस स्नेह, शीतलता, सहन-शीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा।[६] स्पष्ट है कि प्रसादजी स्त्री और पुरुष को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। इस नाटक का विषय और भी भावनात्मक रूप से जटिल है। राष्ट्रीयता की भावना को हम किसी हद तक स्वाभाविक और सहज तो कह सकते हैं किन्तु बर्बरता और कोमलता का यह द्वन्द्व-भाव संसार की अन्यतम समस्या प्रकट करता है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की जो शृंखला 'राज्यश्री' से आरम्भ होती है, उसकी प्रथम प्रातिनिधिक कड़ी 'अजातशत्रु' है। मानव समाज की कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो देश-काल की सीमाओं को पार कर सार्वकालिक और सार्वदेशिक हैं। 'अजातशत्रु' में भी नारी-समस्या, युद्ध-समस्या आदि ऐसी ही कतिपय चिरन्तन समस्याएँ हैं जिनका चित्रण और समाधान हमें इस नाटक में मिलता है। विविध क्षेत्रों से विरोध के सूत्रों को उभार कर उन्हें संयोजित करते हुए एक चरम सीमा–संघर्ष तक लाने का प्रसाद का निजी नाट्य-कौशल इसमें अपने प्रकृत रूप में देखा जा सकता है। सभी दृष्टियों से यह प्रसाद का प्रथम पूर्ण नाटक है।

इधर ब. ब. कारंत ने 'अजातशत्रु' का भी मंचन किया है पर उन्होंने इस प्रस्तुति में कथाभाग को सर्वथा गौण बनाकर सारी कठिनाइयों को आसान कर दिया है। एक गीति-नाट्य की शक्ल में यह नाटक कोई समस्या पैदा नहीं करता क्योंकि वहाँ रंग-दृश्य की अपेक्षा रंग-कल्पना और संकेतों से ही काम चल जाता है। 'अजातशत्रु' की ऐसी प्रस्तुति से प्रसादजी कहाँ तक सहमत होते यह कहना बड़ा मुश्किल है। लेकिन इन तथ्यों पर एक सार्थक अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

प्रसादजी के अन्य ऐतिहासिक नाटक इतिहास से अधिक इतिहास की समस्याओं

में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए इनकी रंग-प्रस्तुति में वैसी कठिनाई नहीं है जैसी अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त को लेकर है। 'स्कन्दगुप्त' को तो प्रसादजी की प्रतिनिधि नाट्य-संरचना कहा जाता है। है भी यह इसी प्रशंसा के योग्य। सभी अन्तर्विरोध गतिरोधक नहीं होते। उनसे गति का एक नया स्वरूप बनता है। चरित्र के अन्तर्विरोध को लेकर प्रसादजी ने यह नाटक लिख कर जैसे अपनी ही भावनाओं का द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। इसलिए भी इस नाटक को रंगमंच की दृष्टि से बड़ा सफल माना गया है। संस्कृत नाटकों की अपेक्षा इस पर आधुनिक नाटकों की छाया ही अधिक है पर नृत्य-गीत संयोजन से परम्परागत रंगमंच की कुछ अनिवार्यताओं का निर्वाह भी किया गया है। चरित्र का अन्तःसार बहुत काल्पनिक नहीं है इसलिए भी रंगाभिनय की दृष्टि से ये चरित्र ठोस और मूर्त्त हैं। इनके साथ स्कन्दगुप्त का व्यक्तिगत दर्शन नाटक को आकर्षक रंग-समस्या भी देता है।

स्कन्दगुप्त के वस्तु-विस्तार को यदि हम तत्काल छोड़ भी दें तो क्या ऐसा नहीं लगता कि यह नाटक बहुत हद तक एक विवरणात्मक कविता है। क्या इसका अधिकांश अभिनेता की गतिविधि और आन्तरिक भंगिमाओं से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ नहीं है? क्या हम संस्कृति और साम्राज्य के इस विशाल विश्व में उस आत्मिक संकट से दो-चार नहीं होते जो स्कन्दगुप्त का अन्तःसार है? संस्कृत नाटकों में अन्तःसार कहीं शकुन्तला के संकट के रूप में प्रकट होता है तो कहीं पुरुरवा-उर्वशी के प्रसंग में। एक ओर स्कन्दगुप्त के नायकत्व में इन्द्र की तरह लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम तो ठीक है, पर दूसरी ओर वैभव और त्याग का एक करुणा-कोमल प्रकरण भी है जो इस चरित्र में प्रकट होता है। संस्कृत नाटकों में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं किया गया है। विशेषतः कालिदास के नाटकों में तो यह एक उभयचारिक पद्धति ही बन गयी है।

'स्कन्दगुप्त' का कथा-फलक गुप्तयुगीन है जो भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है। इसमें आर्य-संस्कृति की महत्ता और गौरव अपने प्रकर्ष पर है। आर्य-अनार्य-संघर्ष की बड़ी सशक्त भूमिका इस ऐतिहासिक प्रहर में मिलती है जिसकी ओर नाटककार उत्तर काल में विशेष रूप से उन्मुख हुआ था। माण्डलिक राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य से प्रारम्भ हुई यह सन्दर्भ-कथा पूर्ण हुई आर्यावर्त की उस परिकल्पना में, जो राष्ट्रीय घनत्व की उद्भावक है। प्रसाद की इस परिकल्पना की भूमिका 'जनमेजय का नागयज्ञ' में है तो पहला व्यापक निदर्शन 'स्कन्दगुप्त' में तथा इसकी सिद्धि 'चन्द्रगुप्त' में निहित है।

'स्कन्दगुप्त' का कथानक अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व के दुहरे ताने-बाने से बुना हुआ है। अतः वह जितना जटिल है, उतना ही रोचक और नाटकोचित भी। धर्म, दर्शन, राजनीति, राष्ट्र, समाज, नारी, पुरुष सभी प्रसाद के चिन्तन-धर्मी मन में संकलित

समस्याओं एवं समाधान के साथ इसकी रंगभूमि में उतर आये हैं।

'स्कन्दगुप्त' के अभिनय में सबसे पहले जिस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है वह यह कि नाटक में परिस्थितियाँ प्रधान हैं और कार्य-व्यापार गौण। ये परिस्थितियाँ अपनी आन्तरिकता में बड़ी व्यापक और मार्मिक हैं। इनके आधार पर गहरे मानवीय प्रश्नों को तय किया जा सकता है। विशेष करके नारी चरित्रों को लेकर तो प्रसादजी ने निश्चय ही मौलिक व्यक्ति और वर्गों का निर्माण किया है। स्त्रियाँ माया, बन्धन और पाप ही नहीं है, वे अगर बाँधती हैं तो मुक्त भी करती हैं। 'चित्रलेखा' में भगवती चरण वर्मा ने जो यह समस्या उठायी थी उसकी नाटकीयता की सर्वत्र प्रशंसा हुई है पर यह कम लोग लक्षित कर सके हैं कि इस नाटकीयता का मूल स्रोत प्रसाद के नाटकों में मौजूद है जहाँ गम्भीरतम नैतिक प्रश्नों को जीवित सन्दर्भों में प्रसादजी ने उठाया है। यदि कोमा, देवसेना और कल्याणी भारतीय नारी के एक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं तो ध्रुवस्वामिनी, अलका आदि उसके दूसरे पहलू को उजागर करती हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रसादजी की चरित्र-सम्बन्धी परिकल्पना को केवल एक पक्ष से ही अब तक पहचानने की कोशिश की जाती रही है। प्रेम और विवाह को लेकर भारतीय समाज की नैतिक मान्यताओं को जैसी चुनौती प्रसादजी ने 'ध्रुवस्वामिनी' में दी, उसे कम महत्त्व का नहीं समझना चाहिए। नारी के विद्रोह की यह विशिष्ट गाथा चरित्र की परिकल्पना में एक नया योगदान है।

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की अन्तिम किन्तु अन्यतम नाट्यकृति है। अपनी इस कृति में वे सर्वाधिक रूढ़िमुक्त और नाटकीय यथार्थ के आग्रही सिद्ध हुए हैं। विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि 'थीसिस-प्ले' के वर्ग की रचना होते हुए भी यह नाटकीय गुणों से भरी-पुरी है। यह प्रसादजी का एकमात्र ऐसा नाटक है, जिसमें नाट्य-वस्तु और नाट्य-शिल्प का सम्यक् विनियोजन एवं सामंजस्य लक्षित होता है। इसमें औपन्यासिक प्रवृत्ति का अभाव है। संघर्ष और द्वन्द्व की इतनी सघन नाटकीयता अन्यत्र नहीं मिलती। प्रसाद की प्रयोगशीलता का यह एक अभूतपूर्व निदर्शन है। इसीलिए इसे अभिनव नाट्य प्रयोग कह कर प्रशंसित किया जाता है।

'ध्रुवस्वामिनी' की विषय-वस्तु ऐतिहासिक है, पर उसके मूल में दो समस्याएँ भी हैं, एक विवाह–मोक्ष की समस्या और दूसरा कुपात्र को राज्य-सिंहासन से पद-च्युत करने की समस्या। नाटककार ने नारी की ज्वलन्त समस्या को यथार्थ की भूमि पर उपस्थित करके बड़ी कुशलता से उसका समाधान किया है। इस नाटक की कथा अपने आप में वेदनापूर्ण है क्योंकि उसमें एक प्रतिभा-सम्पन्न नारी की करुण कथा प्रस्तुत की गयी है। प्रसाद ने इस नाटक का आधार गुप्तकालीन इतिहास से सम्बद्ध एक नवीन गवेषणा को बनाया है। इतिहास की साहित्यक अवतारणा में सम्भावना के लिए जितनी गुंजाइश है, उसका लाभ उन्होंने पूरी जागरूकता से उठाया है। प्रसाद ने ऐतिहासिक तथ्य को

सुरक्षित रखते हुए उसे कहीं-कहीं से कुछ घुमा-फिरा कर प्रस्तुत किया है। भारतीय गौरव और नाटकीयता की रक्षा के विचार से ऐसा करना उनकी विवशता थी। इस नाटक में प्रसाद को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई काल्पनिक प्रसंगों की भी अवतारणा करनी पड़ी है। ऐसा उन्होंने विविध सूत्रों में एकता लाने के लिए किया है, साथ ही नायक के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए स्वच्छन्द कल्पना का सहारा भी लिया है। ध्रुवस्वामिनी के दाम्पत्य जीवन की कटुता, खड्गधारिणी का अभिनय, बौने-कुबड़े आदि कल्पित प्रसंग हैं जो इतिहास के रिक्त अंशों की पूर्ति करके उसे जीवन्त कथा का रूप देते हैं। स्पष्ट है कि प्रसाद ने इतिहास की विरल रेखाओं को अपनी परिष्कृत-बुद्धि और कल्पना के रंगों से एक जीवन्त चित्र में बदल दिया है।

'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक न तो प्रसाद के 'अजातशत्रु' के समान कई कथानकों से बना है और न 'स्कन्दगुप्त' की तरह उसका कथानक ऋजु-कुचित बनाकर ही विकसित किया गया है। उसमें 'चन्द्रगुप्त' के समान सुदीर्घ काल की सामग्री को भी बलपूर्वक नहीं ठूँसा गया है। इन सबके विपरीत 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक अत्यन्त सीधा और सरल है।

'ध्रुवस्वामिनी' की मूल समस्या नारी के सम्बन्ध-विच्छेद और पुनर्लग्न की है। आधुनिक युग के जाग्रत नारी-मानस का एक ज्वलन्त और तेजस्वी रूप इसमें मिलता है। पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का जो अभ्यास शताब्दियों से बना रखा था वह ध्रुवस्वामिनी जैसी नारी के साथ नहीं चलेगा। वह पति के मर्यादा से बाहर जाते ही विद्रोहिणी हो उठती है। प्रसाद इस नाटक में अतीत-कथा के माध्यम से आधुनिक नारी की ऊर्जा और ओजस्विता का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। उन्होंने आधुनिक नारी की समस्या को सनातन समस्या के रूप में प्रस्तुत करते हुए जीवन के एक जटिल और उलझनपूर्ण प्रश्न को समाधान तक पहुँचाया है। इस दृष्टि से इसे 'एक घूँट' की ही भाँति प्रमेय या वैचारिक नाटक (थीसिस-प्ले) कहा जा सकता है।

चारित्रिक ओजस्विता की दृष्टि से यह नाटक विशेष प्रभावशाली है। मन्दाकिनी, ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, पुरोहित, सामन्त कुमार आदि इसमें अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ उभरे हैं। मन्दाकिनी का निर्भीक अभियोजन, ध्रुवस्वामिनी की व्यंग्य-कटु-स्पष्टोक्ति, चन्द्रगुप्त की स्वगत-घोषणा, पुरोहित की निर्भीक व्यवस्था, सामन्त कुमार का दुर्निवार विद्रोह–सभी कुछ ओजस्वी और प्रभावशाली है। शकराज की अनुरक्ता कोमा भावनामयी सरल हृदयवाली है। मन्दाकिनी यहाँ 'चन्द्रगुप्त' की अलका की याद दिलाती है।

चरित्र-विधान के ही समान इस नाटक के संवाद भी बड़े जीवन्त, चुस्त, संक्षिप्त और तीखे हैं। साथ ही सर्वाधिक वेगमय, आवेशपूर्ण और तार्किक भी हैं। व्यंग्य की तीक्ष्णता उनमें अतिरिक्त नाट्यगुण उत्पन्न करती है। संवादों का इतना सुनियोजित कसाव

प्रसाद के किसी अन्य नाटकों में नहीं मिलता है। उनके प्रौढ़ नाटकों 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' के समान न तो इसमें काव्यात्मक शैली के कथोपकथन हैं, न दार्शनिकता से पूर्ण स्वगत-कथन। इसके संवादों में व्यावहारिकता अधिक है इसीलिए वे अपने औचित्य और सौन्दर्य के लिए विख्यात हैं।

ध्रुवस्वामिनी के समक्ष दो द्वन्द्व हैं – एक दुराचारी पति से मुक्ति और दूसरा चन्द्रगुप्त से सम्मिलन। उसके इन दोनों द्वन्द्व-सूत्रों में विचित्र अन्योन्याश्रयता है। कोमा का प्रसंग इस समन्वित द्वन्द्व को और गहरा बना देता है। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की इतनी त्वरा और फिर भी इतनी सहजता तथा घटनाओं का इतना त्वरित आरोहावरोह अन्यत्र कठिनाई से ही दृष्टिगोचर होता है। बाह्य संघर्ष के सूत्र भी धीरे-धीरे उभरते हैं, स्वतः संयुक्त होते चलते हैं और नाटक के अन्त में सघन हो जाते हैं। द्वन्द्व ही इस नाटक का प्रमुख आकर्षण है।

ध्रुवस्वामिनी की रसात्मकता के विषय में इस द्वन्द्व को ही प्रमाण माना जा सकता है। संघर्ष- प्राधान्यता इसे वीर रसात्मक नाटक बनाती है। वीर रस के प्रमुख सहयोगी शृंगार के दो प्रसंग इस नाटक में है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के प्रणय में गहरी आन्तरिकता होने के कारण वह कभी-कभी परकीय-भाव के संगोपनीय माधुर्य से ओत-प्रोत हो उठा है। अन्य रसों में हास्य उल्लेखनीय है : जो बौने, कुबड़े आदि के प्रसंगों में निहित है। इसके सन्दर्भ में अन्तिम किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि इस नाटक की परिणति से प्रसाद 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' जैसा शान्त रसात्मक प्रभाव तो नहीं उत्पन्न कर सके हैं किन्तु मुक्ति को मिलन तक न पहुँचाकर उन्होंने इसकी एक सम्भावना अवश्य बनी रहने दी है।

'ध्रुवस्वामिनी' के विचार-प्रधान नाटक होने के कारण इसमें गीतों की संख्या न्यूनतम है। पूरे नाटक में कुल चार ही गीत हैं – दो मन्दाकिनी का, एक कोमा का और एक नर्तकियों का। मन्दाकिनी का अभियान-गीत प्रसाद की राष्ट्रीय जागरण भावना का प्रतिनिधित्व करता है। नर्तकियों के गीत की एक नाटकीय उपयोगिता है। शेष दो गीत कवि प्रसाद के कवित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं।

नाटककार ने अभिनय, रंगमंच की सुविधाओं और अनुकूल परिस्थितियों का इसमें विशेष ध्यान रखा है तथा रंग-निर्देश की पद्धति को विस्तारपूर्वक अपनाया है। पात्रों की वेश-भाषा, रंगमंच की साज-सज्जा और स्थिति-परिचय के लिए इस नाटक में पर्याप्त निर्देश दिये गये हैं। इसके दृश्य सीधे और अंकन में सरल हैं इसलिए अभिनेयता में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। थोड़ी सी रंग-सज्जा, एक यवनिका और दो पर्दों से पूरे नाटक का अभिनय किया जा सकता है।

अभिनेयता की दृष्टि से इस नाटक के तीनों अंक सुविधाजनक हैं क्योंकि थोड़े-से हेर-फेर के साथ क्रमशः तीनों अंकों में अलग-अलग एक ही स्थान का वर्णन

है और लगभग एक जैसा ही दृश्य बना रहा है, चाहे वह प्रथम अंक में शिविर का हो या द्वितीय एवं तृतीय अंक में शकदुर्ग का। ये सारे प्रसंग और दृश्य सुगमता से अभिनेय हैं तथा मंच-सज्जा एवं मंचीय विधान के सर्वथा अनुकूल हैं।

हिन्दी नाटक को मनोरंजन की सीमा से निकालकर यथार्थ के सन्निकट लाने के प्रयास में प्रसाद को अनेकानेक रूढ़ियाँ तोड़नी पड़ी हैं। उन्होंने पश्चिम के कुछ बाह्य और स्थूल उपादानों को अपनी समन्वय-बुद्धि के साथ स्वीकार किया है। यही कारण है कि प्रस्तुत नाटक में पात्रों को मंच पर बेझिझक मदिरा पान करते हुए तथा शकराज और रामगुप्त की हत्या जैसे दृश्य शामिल किये गये हैं। प्रसादजी की यह अकेली नाट्यकृति है जो अपने यथावत् रूप में पाठ्य तथा अभिनेय है। इसमें क्लाइमेक्स तथा अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य पाश्चात्य पद्धति की ही देन है। पूर्ववर्ती नाट्यकृति चन्द्रगुप्त में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है।

'ध्रुवस्वामिनी' में नारी-जीवन की जिस समस्या को उठाया गया है उसी को लेकर इब्सन ने दो नाटक – 'द डॉल्स हाउस' एवं 'घोस्ट्स' लिखे थे। एक अंक में एक ही दृश्य की अवतारणा की शैली भी इब्सन के नाटकों में मिलती है। ध्रुवस्वामिनी के जीवन के पूर्व-प्रसंग – ध्रुवस्वामिनी का बन्दी बनाकर लाया जाना, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का परस्पर आकर्षण, विवाह के अवसर पर रामगुप्त का द्राक्षासव में डूबे रहना आदि इब्सन के नाटकों की सिंहावलोकन की शैली पर पात्रों के संवादों द्वारा यत्र-तत्र प्रकट किये गये हैं। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण में तुलनात्मक विरोध का भाव भी इब्सन के नाटकों में पाया जाता है। अतः प्रसादजी पाश्चात्य नाटककार इब्सन से कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभावित प्रतीत होते हैं।

यद्यपि अपने उत्तरवर्ती नाटकों में प्रसादजी की रंग-दृष्टि देशकाल का संयोजन पश्चिमी नाटकों की तरह करती है पर यहाँ अरस्तु की अपेक्षा ब्रेख्ट की नाट्यपद्धति अर्थात् एपिक थियेटर वाली पद्धति ही अपनायी गयी है। परन्तु, ब्रेख्ट के सिद्धान्तों से प्रसादजी का परिचय रहा होगा, इसकी सम्भावना नहीं है। जिन स्रोतों से ब्रेख्ट ने अपने ऐपिक थियेटर की संकल्पना की है उनमें पूर्वी स्रोतों का भी अपना ख्याल है। इसलिए प्रसाद के नाटकों पर पश्चिमी प्रभाव को इसी विशेष अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए। प्रसाद अपने समग्र सन्दर्भो में इब्सन और अरस्तू की अपेक्षा ब्रेख्ट के अधिक नजदीक हैं।

प्रसादजी ने अपने एपिक थियेटर की परिकल्पना के अनुरूप ही नाटकों में कथ्य, वातावरण और चरित्रों का अभियोजन किया था। इस अभियोजन में जो क्लॉसिकल स्पर्श है उसके अनुरूप रंगमंच और अभिनेता का स्तर तैयार करना साधारण काम नहीं है। हमने देखा है कि अक्सर अभिनेता प्रसाद के पात्रों से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते जिसके अभाव में उसका अभिनय चरित्र की परिकल्पना के अनुरूप नहीं ढलता बल्कि अभिनेता के अपने व्यवहार-वैचित्र्य (मैनरिज्म) का अंग बन जाता है।

'चन्द्रगुप्त' के पूर्व प्रदर्शनों में जो शिथिलता थी उसका कारण यही था कि प्रसाद के चरित्रों को रंगकर्मी ठीक से आत्मसात् न कर सके थे। किसी हद तक बाद के प्रदर्शनों में मंच की कमी को तो पूरा कर लिया गया पर प्रसादजी की नाट्यमय परिकल्पना को हमारे रंग-निदेशक फिर भी न पा सके। उन्होंने इस समस्या के हल के रूप में नाटक का अपना रंग-पाठ (स्क्रिप्ट) तैयार किया, फिर भी वे प्रसाद की रंग-दृष्टि तक नहीं पहुँच सके। परन्तु, अब प्रारम्भिक असफलताओं के बाद हाल के वर्षों में 'स्कन्दगुप्त' के अभिनय में रंग-दृष्टि के सघन और प्रभावी होने के प्रमाण मिले हैं।

आधुनिक रंग-सन्दर्भ सूक्ष्म संकेतों से मूर्त होनेवाला सन्दर्भ है। ये सूक्ष्म संकेत पारम्परिक शैलियों में और भी खुलते हैं। मिट्टी की गाड़ी (अनु. मोहन राकेश) में इसका सफल प्रयोग किया गया है, यह हम जानते हैं। प्रकरणों और भाणियों के अनेक तत्त्व आज के तथ्य के लिए बड़े उपयोगी हैं। इसका अनुमान मृच्छकटिकम् (शूद्रक) की प्रस्तुति से ही हो जाता है। गिरीश कर्नाड के 'हयबदन' और मणि मधुकर के 'रस गन्धर्व' में बहुत कुछ समानताएँ हैं पर दोनों की क्षमता अलग-अलग रंग-शैलियों में बदलती हुई देखी गयी है। इसमें यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि पश्चिमी प्रतीक नाटकों से रंग-शैली लेकर हम कथ्य को बहुत अधिक उजागर नहीं कर सकते। खड़िया का घेरा (ब्रेख्ट) की प्रस्तुति से तो यह और भी स्पष्ट हो गया था। इसे पश्चिमी रंग-शैली में प्रस्तुत किया गया था। उसकी प्रतीकात्कता हमारे लिए बहुत कुछ परायी बनी रह गयी। इसके विपरीत जब 'हानूश' (भीष्म साहनी) जैसे नाटक को अपने रंग-शैली में प्रस्तुत किया गया तो वह और भी अधिक ग्राह्य एवं प्रभावशाली हो गया। प्रारम्भ में 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' (मोहन राकेश) में जो रंग-दर्शन प्रकट हुआ था वह प्रसादजी से एकदम प्रतिकृत तो नहीं होता था पर उसके समीप होने का आभास जरूर देता था। लेकिन 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की जमीन' (मोहन राकेश) सर्वथा नया रंग-दर्शन प्रस्तुत करता है जिसमें यथार्थ और मनोविज्ञान का बड़ा ही गत्यात्मक प्रयोग किया गया है।

प्रसादजी निश्चय ही इन तमाम बहसों के केन्द्र में इसलिए आ जाते हैं कि उन्होंने सबसे अधिक साहसपूर्ण रंग-प्रयोग किये हैं। उन्होंने काल और देश की एकता वाली पश्चिमी नाटकीय पद्धति को तोड़कर कालबहुल घटनाओं के आन्तरिक संयोग से रंग-सृष्टि की थी। वे भारतीय नाट्य परम्परा में इसी लोकविस्तार की सम्भावनाएँ देखते हैं। ऐसा लोकविस्तार प्राचीन ग्रीक नाटकों में तो है ही, मध्ययुगीन यूरोपीय-लातिनी प्रभाव वाले नाटकों में भी है। पर, आधुनिक पश्चिमी नाटकों से वह अदृश्य होता हुआ दिखायी पड़ता है। हमारा ध्यान चूँकि पश्चिमी रंग-प्रयोग पर केन्द्रित रहता आया है इसलिए भी हमने लोकप्रयोगों की दिशा में कुछ करने का साहस नहीं किया है।

प्रसादजी जब अपने नाटकों में विषय की प्रस्तावना करते हैं तो उनके ध्यान में एक आत्मपूर्ण काल-खण्ड होता है जिसका एक अपना देश है, जिसके अपने लोग हैं और उनके जीवन-व्यापार हैं। अपनी भाव-सत्ता और संस्कृति के साथ जब ऐसे लोग परिघटनाओं के अंग या आधार के रूप में सामने आते हैं तब निश्चित रूप से हमें प्रसादजी की कल्पनाशीलता का सही विस्तार दिखायी पड़ने लगता है। वे नाटक और अन्तर्वस्तु का इस विराट विजन में एकीकरण या समाहार करते हैं।

इतिहास के प्रति प्रसाद की दृष्टि एक सर्जक की दृष्टि है, जो मानव-समाज की कल्पना के अक्षय भण्डार तथा इच्छा शक्ति के विकास के मूल स्रोत तक पहुँच कर वर्तमान और अतीत के सन्दर्भ में उसका पुनराविष्कार करती है। शिल्प के स्तर पर भी प्रसाद के नाटकों की बनावट रचनात्मक पुनराविष्कार की है। वे पारम्परिक भारतीय रंगमंच की ओर देखते हैं – रंगमंच को पीछे ले जाने के लिए नहीं बल्कि उसे नयी अर्थवत्ता देने के लिए ।

संस्कृत नाटकों में कार्य-व्यापार के साथ अनेक छोटे-छोटे प्रसंग मूल अभिप्राय से जुड़कर नाटक का रूप तैयार करते हैं। सुख और दुःख के मिले-जुले संसार से निकलकर आनन्द की स्थिति रंगमंच और श्रोता दोनों के लिए संवर्द्धक है। संस्कृत नाटक से प्रसादजी ने कार्यविवरण की पद्धति तो अपनायी पर रंगमंचीय निर्देश के रूप में नहीं बल्कि एक व्यावहारिक पक्ष (तथ्य) के रूप में। जिस तरह पश्चिमी नाटकों में दृश्य के साथ संवाद और रंग-निर्देश समन्वित होते हैं और कहीं-कहीं पूरे दृश्य का क्रिया-कलाप एक सम्भाषण की शक्ल में सामने आता है, उसकी अपेक्षा संस्कृत नाटकों में ऐसे दृश्य और प्रसंग न के बराबर हैं। इस तरह का संयोजन प्रसादजी में भी नहीं मिलता। यह ठीक है कि 'चाणक्य' के संवाद लगभग इसी महान् वक्रता के अंश हैं जिन्हें ग्रीक नाटककार रेटरिक का अंग मानते थे। 'स्कन्दगुप्त' में भी आत्मालाप के कुछ ऐसे ही प्रसंग हैं जिन्हें हम वक्तृत्व का अंग ही कह सकते हैं। मातृगुप्त के आत्मालापों अथवा अनन्तदेवी के वक्तव्यों में इस महान् भाषणकला का स्पर्श मिलता है।

संस्कृत नाटकों में सम्भाषण की यह शैली प्रायः नहीं है। अधिकांश नाटकीय संवाद छोटे-छोटे हैं और उनमें विवरण की जगह संकेत अधिक हैं।

अक्सर प्रसादजी के नाटकों में क्रिया-कलाप का विस्तारित और गतिवान चित्र उसके संवादों में ही मिल जाता है। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि यह शैली संस्कृत की है। दरअसल ऐसा है नहीं। यह शैली ग्रीक, स्पेनिश, ब्रिटिश और इंगलिस नाटकों की है। यहाँ तक कि यह सम्भाषण-कला वर्नाडशा के नाटकों तक खिंचती चली आयी है। कभी-कभी रंग-शैलियों की उम्र बहुत लम्बी दिखायी पड़ती है। इसका प्रमाण ऐसे प्रसंग हैं।

विलक्षण रूप से प्रकृतवादी और आश्चर्यजनक रूप से आत्मवादी नाट्यपरम्पराओं के सन्दर्भ में रंग-शैली की विवेचना एक विचारणीय प्रश्न बन जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' आदि परवर्ती नाट्यकृतियों में प्रसादजी ने सम्भाषण के प्रसंगों को प्रायः सीमित कर दिया है। संस्कृत नाटकों में ऐसा प्रसंग सबों का उल्लास बन जाता है। उनके रंग-बन्ध से यह बार-बार स्पष्ट होता है पर प्रसादजी के नाटकों में स्थिति की आन्तरिकता के लिए शब्दों और शारीरिक क्रियाओं की गति का कोई सनसनीखेज प्रभाव दिखलाया गया हो ऐसा कम ही मिलता है। प्रसादजी में रंग-व्यापार ही मुख्य हैं। वे ही शब्दचित्र की तरह प्रकट होकर एक वातावरण की प्रत्यक्षता ग्रहण करते हैं।

प्रसादजी के सभी नाटकों में कथात्मक पृष्ठभूमि के साथ कल्पित आन्तरिक चारित्रिक लय इस तरह जुड़ जाती है कि यदि इसे पकड़ लिया जाये तो उसकी समूची गहराई में हमें तत्काल प्रवेश मिल जायेगा। यह रंग-दृष्टि का अभिनय मार्ग है।

रंग-दृष्टि के इस अभिनय मार्ग की चर्चा हमने अनेक नाटकों के सन्दर्भ में की है, और यह पाया है कि अपेक्षाकृत समकालीन नाटकों में यह बौद्धिक प्रयत्नों का साफ-साफ प्रभाव जताता है। समस्याएँ हार्दिक न होकर बौद्धिक हो जाती हैं। प्रसादजी बौद्धिक समस्याओं को ही हृदय के मार्ग से गुजारते हैं और इस अर्थ में वे संस्कृत नाटककारों के अधिक समीप हैं। हम जानते हैं कि प्रसादजी भावना और बुद्धि के द्वन्द्व से अपनी रचना-दृष्टि विकसित करते हैं किन्तु इस जटिलता के बावजूद वे सन्तुलन को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। वे लोकधर्मी अभिनय और नाट्यधर्मी अभिनय की चर्चा करते हैं। प्रसाद की कल्पना में संस्कृत नाटक और नाट्यशास्त्र का रंगमंच था जिसके अनुरूप वे लिख रहे थे। परन्तु, दुर्भाग्य यह था कि इस रंगमंच का मूर्त रूप उनके देश-काल में सुलभ न था। प्रसाद अपने संवेदन से समझ रहे थे कि यह रंगमंच मरा नहीं है। वे यूरोप का अन्धानुकरण या पारसी रंगमंच के भौंडेपन से समझौता न करके इस रंगमंच का पुनराविष्कार करना चाहते थे जो उनकी रंग-दृष्टि और रंग-सृष्टि के ज्यादा अनुकूल थी।

प्रसादजी रंगकर्म और यथार्थवाद के सम्बन्ध पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज्म के आधार पर कुछ और ही है। वे यह मानते हैं कि रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायेंगे। उनका यह भी विचार है कि ऐसी स्थिति में प्रभाव की असम्बद्धता पैदा होगी और नाटकों से संवाद के अलावा दृश्यों का सम्पूर्ण लोप हो जायेगा। संस्कृत नाटकों में दृश्य-वस्तु ही श्रव्य बनकर आती है। प्रसादजी इस प्रक्रिया के पक्ष में थे और उसकी रक्षा भी करना चाहते थे।

रंगमंच पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है और भारत की रंगशाला की

चर्चा भी प्रायः हर जगह की गयी है। पर, हमारा ध्यान रंगशालाओं के भेद और उसकी व्यावहारिकता की ओर भी गया है। इस प्रकार के नाट्य मन्दिरों का विशेष उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है। सीता वेंगा में एक ऐसे ही प्रेक्षागृह की खोज इसी सदी के दूसरे-तीसरे दशक में हुई थी। नगर-रंगशालाएँ किस प्रकार की हुआ करती थीं इसका सिर्फ पुस्तकीय उल्लेख ही मिलता है।

नृत्य और अभिनय के साधारण अंश जिन्हें पिंडीबंध कहा जाता था वे रंगपीठ पर होते थे, ऐसा प्रसादजी बताते हैं। नाट्य शास्त्र में स्त्री-पुरुषों को अभिनय की अलग-अलग शिक्षा देने का प्रावधान है। लीलाओं में मुखौटों का प्रयोग भी मिलता है। इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति उत्सवधर्मी और रंगधर्मी थी। जीवन की गति के लिए ये उत्सव और रंगकर्म आवश्यक हैं। इनके बिना उस सन्तुलन की उपलब्धि नहीं हो सकती थी जो काल और देश में कला-कर्म द्वारा सम्पन्न होता है। नाटक देखना एक आनन्ददायक कर्म है। नाटक की फलप्राप्ति सौन्दर्यमूलक है और साथ ही मानवीय भी। यहाँ आनन्द केवल इन्द्रियों का ही नहीं मन का भी है और भावना का भी। भारतीय नाटककार त्रासदी की कामना नहीं रखते। उनकी कामदी एक रस व्यवस्था है। डब्ल्यू वेल्स ने लिखा – "संस्कृत नाटकों में एक प्रकार का सशक्त किन्तु अनिर्वचनीय सन्तुलन है जो न त्रासदी है, न कामदी है और जिससे पश्चिम अपरिचित है। घटिया नाटकों में दिवा-स्वप्न या अचेतनता संस्कृत लेखों की रचनाओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे सैद्धान्तिक विवेचना से जिस किसी का परिचय भी है उसे रंगमंच और संगीत की स्पष्ट तथा निहित समानताओं का महत्त्व प्रत्यक्ष होगा। अगर यह मानना गलत हो कि नाटक का जन्म नृत्य से ही हुआ है तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि इसका विकास नृत्य के साथ-साथ हुआ है और संगीत की तरह ही इसका भी नृत्य से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसलिए ऐसा लगता है कि रंगमंच के लिए भारतीय दृष्टिकोण का अधिष्ठाता और प्रेरणा नृत्य ही है जिसका रीतिबद्धता तथा अयथार्थवादी आकार की ओर झुकाव है।" [८]

प्रसादजी ने इस रीतिबद्धता और अयथार्थवादी आकारिकता से रंगमंच को मुक्त करने के लिए उसे एक अधिक जीवन्त आयाम देने का प्रयास किया है। यह अभिनय की कसौटी है। प्रसादजी अभिनय और अभिनेता को रंग-दृश्य की आत्मा मानते हैं। प्राचीन और नवीन के बीच सन्तुलन के लिए उनकी सृष्टि में अभिनेता सम्पूर्ण मानक है। अभिनय की कसौटी पर ही नाटक सफल और असफल होता है। स्पष्ट है कि वे अभिनय में उदात्त और साधारण दोनों की अपनी-अपनी अलग भूमिकाएँ मानते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि प्रसादजी की रंग-कल्पना केवल उदात्त को अभिनेय मानती है वे इस सन्तुलन को शायद पहचान नहीं पाते।

प्रसादजी से परवर्ती नाटककारों ने रंग-दृष्टि का कौन-सा प्रभाव ग्रहण किया है?

इसके सन्दर्भ में तो यहाँ सिर्फ इतना ही कहना समीचीन होगा कि प्रसाद की स्वच्छन्दता, उनकी दूर-दृष्टि, उनके आदर्श और यथार्थ के सन्तुलन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति से एक पूरी पीढ़ी प्रभावित है। मोहन राकेश से लेकर दूधनाथ सिंह तक यह प्रभाव किसी-न-किसी रूप में विकसित होता हुआ दिखायी पड़ता है।

राष्ट्रीय संस्कृति की परिकल्पना में थोड़ा अन्तर तो आया पर अनुभूतिशीलता को प्रसादजी अभिव्यंजना से कम महत्त्व न देते थे। अनुभूति को वे मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते थे। इसलिए प्रसाद के नाटकों में अनुभूतियों का जो द्वन्द्व है उससे बाद के नाटककारों ने बहुत कुछ लिया है। उसमें पर्याप्त जटिलता है इसका अनुभव भी इनसे गुजर कर ही होता है। वैसे तो प्रसाद के पात्रों को अलग-अलग कठघरों में डाल कर उनकी वैयक्तिक सत्ता और स्वतन्त्रता को हम नष्ट ही कर देते हैं पर रचनाकारों की पीढ़ी प्रसाद से अपने रंगकर्म की स्वतन्त्रता सिद्ध करने के लिए उन्हें एकदम से नकार दे ऐसा भी सम्भव नहीं है। प्रसाद के विजन का उपयोग उनके शील का माधुर्य या विकटता, राग-विराग की छविमयता, उनकी भावना की मर्मज्ञता के साथ समकालीन कथ्य को जोड़ कर जीवित रंगमंच की परिकल्पना सार्थक करने में की जा सकती है।

स्पष्ट है कि संस्कृत नाटकों की दृश्य-योजना में भी और प्रसादजी के दृश्य-बन्धों में भी ऐसी वर्जनाएँ रुकी नहीं है। यह प्रत्यक्ष है कि ऐसे दृश्य-बन्ध या तो खुले मंच पर सम्भव हैं या उन्हें संकेतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है।

निश्चय ही इन सन्दर्भो में प्रसादजी के दिमाग में स्पष्टतः तकनीकी मंच की कल्पना रही होगी। ऐसा मंच उस समय सिर्फ बांग्ला नाटकों को प्राप्त था। प्रसादजी के जीवन काल में ही बंगाली केन्द्रों में अद्यतन नाटक खेले जाने लगे थे। कलकत्ते का रंगमंच तो छाया-प्रकाश, छाया-चित्र, ध्वनि-संकेत आदि के लिए मशीनी प्रयोग के कारण आधुनिक हो ही गया था, बांग्ला नाटकों में भी आँधी और अन्धकार दोनों की योजना यान्त्रिक साधनों से ही की जाती थी। आँधी का आवर्त ध्वनियों से पैदा किया जाता था और अन्धकार के लिए तो बिजली का गुलकर देना ही काफी था। मैजिक या लालटेन द्वारा नदी के छाया-प्रवाह को पृष्ठभूमि के उजले पर्दे पर दिखाया जाता था। स्पष्ट है कि प्रसादजी ने अपनी क्लैसिकल दृष्टि का विसर्जन नहीं किया था बल्कि उसके अनुरूप रंग-दृष्टि और रंगाभिनय की कल्पना की थी। प्रसाद अपने समय के ही नहीं, सम्भवतःआगे के भी रचनाकार हैं। विश्व-रंगमंच का इतिहास प्रमाणित करता है कि प्रभावशाली नाटककार ही सशक्त और सम्भावनापूर्ण आलेखों द्वारा निदेशकों और अभिनेताओं के लिए प्रेरणा और प्रयोग की भूमि तैयार करते रहे हैं।

सन्दर्भ

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, तृ. सं., मई १९६१ पृ. २१५-१६

२. प्रसाद के नाटक : रचना और प्रक्रिया, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, प्र. सं. १९७६, पृ. ४०

३. कल्पना, मई १९६० से सितम्बर १९६० तक में- 'प्रसाद के नाटकों का रंग-मंचीय अध्ययन' शीर्षक से क्रमशः प्रकाशित

४. प्रसाद के नाटक : रचना और प्रक्रिया, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, पृ. १३६

५. रत्नशंकर प्रसाद (सं.) : अभिनय चन्द्रगुप्त, प्राक्कथन–लक्ष्मीकान्त झा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी-१ आदि संख्या १९७७, पृ. ७

६. जयशंकर प्रसाद : अजातशत्रु, भारती भण्डार, इलाहाबाद, उन्नीसवाँ सं. संवत् २०१९ वि., पृ. १२०-२१

७. शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' का रूपान्तर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

८. वीरेन्द्र नारायण (अनु.) : भारत का प्राचीन नाटक, 'संतुलन में उपलब्धि', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, प्र. सं. १९७७, पृ. ५६

मैला आँचल : यथार्थ और भाषा का अद्वैत

– अनूप कुमार

'मैला आँचल' हिन्दी साहित्य की कालजयी कृतियों में से एक है। इसका प्रथम प्रकाशन १९५४ में हुआ लेकिन इसकी प्रासंगिकता आज भी कायम है। आंचलिक उपन्यास के रूप में इसको व्यापक रूप से ख्याति मिली। वस्तुतः यह उपन्यास बिहार राज्य के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गाँव को केन्द्रित करते हुए उसके विभिन्न पक्षों को उजागर करता है, फिर भी यथार्थ वर्णन की प्रामाणिकता के कारण यह भारत के सभी गाँवों की दुर्दशा का जीवन्त दस्तावेज पेश करता है। उपर्युक्त गाँव के परिवेश का यथार्थ औपन्यासिक भाषा की वास्तविकता से मिल कर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है कि पाठक स्वयं को उन समस्त घटनाओं, प्रसंगों, विवरणों का साक्षी मानने लगता है जिन्हें उपन्यासकार ने 'मैला आँचल' में प्रस्तुत किया है। विवेच्य कृति की भाषा एक ऐसा आधार है जो अपनी प्रकृतिगत सहजता में रचना को जीवन्त तथा प्रभावी बनाता है। यहाँ प्रेमचन्द का स्मरण सहज ही हो आता है जिन्होंने अपनी अद्वितीय कृति 'गोदान' में ग्राम्य जीवन और उसकी तमाम समस्याओं, स्थितियों को उनकी यथार्थता में निरूपित करने का सफल प्रयत्न किया है। दोनों रचनाकार इस धरातल पर समान दिखायी देते हैं कि दोनों ही ग्राम्य जीवन की समस्याओं के चित्रण और उसकी अनुभूति कराने के मूल सरोकारों को लेकर चले हैं और इस आधार पर सफल भी हुए हैं। अन्तर सिर्फ इतना दिखता है कि 'मैला आँचल' में अंचल विशेष की संस्कृति के सापेक्ष वहाँ की आंचलिक भाषा के अनुरूप, भाषा को व्यवहृत किया गया है, जबकि 'गोदान' में खड़ी बोली हिन्दी को आधार भाषा के रूप में प्रयुक्त किया गया है और ग्राम्यता का आभास कराने के उद्देश्य से प्रेमचन्द उसमें बस इतना परिवर्तन करते हैं कि पात्र की भाषा परिष्कृत परिवेश की न लगकर ग्राम्य परिवेश की लगने लगे। जैसे ,

होरी – सब आपका आसीरबाद है, दादा (गोदान, पृ. ३४)
दारोगा - तुझे किस पर शुबह है? (गोदान, पृ. ९४)
होरी – मेरा सुबहा किसी पर नहीं है। (गोदान, पृ. ९४)

पहले उदाहरण में लेखक ने 'आशीर्वाद' के स्थान पर 'आसीरबाद' का व्यवहार करके आभास करवाया है कि होरी अपनी प्रकृति के अनुरूप खड़ी बोली हिन्दी शब्दों को उनके मूल रूप से नहीं बोल रहा है। परवर्ती उदाहरण में भी दारोगा 'शुबह' को शुद्ध रूप में व्यवहृत करता है जबकि उसके उत्तर में होरी 'शुबह' के स्थान 'सुबहा' का प्रयोग करता है। 'गोदान' में धनिया आदि पात्रों की भाषा में इस तरह के परिवर्तित शब्द-रूपों की प्रयुक्ति बहुतायत से देखने को मिलती है लेकिन कहीं-कहीं खड़ी बोली हिन्दी का विन्यास अविकल रूप में उपलब्ध होता है –

धनिया – तो यहाँ कौन उन्हें बुलाने जाता है। (गोदान, पृ. ३५)

होरी – तू इस जाड़े-पाले में कैसे आयी? कुसल तो है। (गोदान, पृ. १०१)

धनिया – अब मैं जानूँ, क्या कर बैठा, चलकर पूछो उसी राँड़ से? (गोदान, पृ. १०१)

होरी के संवाद में 'कुशल' के स्थान पर 'कुसल' कर दिया गया जबकि यहाँ धनिया की भाषा पूरी तरह से मानक हिन्दी है, हालाँकि रचनाकार ने वाक्य में 'राँड़' जोड़कर धनिया के आक्रोश को उभारा है और उसकी अभिव्यक्ति के स्तर को संकेतित कर दिया है।

कई स्थलों पर धनिया, मानक हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द व्यवहृत करती दिखायी देती है, जो इस बात का संकेत करते हैं कि वह ग्राम्य भाषा का प्रयोग करती है –

आज साल-भर के बाद जाके सुधि ली है। यही आसा बँधी रहती थी कि कब वह दिन आएगा और कब तुम्हें देखूँगी। (गोदान, पृ. १७३)

इस वाक्य में 'आशा' के स्थान पर 'आसा' का व्यवहार इसी बात को रेखांकित करता है। होरी, धनिया जैसे पात्र कभी शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी का व्यवहार करते हैं और कभी उनके भाषा-प्रयोग में 'श' के स्थान पर 'स' हो जाता है या कभी 'क्ष' के स्थान पर 'छ' मिलता है।

प्रेमचन्द ने ग्राम्य परिवेश की भाषा का आभास कराने के लिए मुहावरों का भी आधार लिया है। प्रायः देखने में आता है कि कम पढ़े-लिखे लोग बोलचाल में लोकोक्तियों और मुहावरों का अधिक प्रयोग करते हैं। 'गोदान' में पृ. १७३ में धनिया के एक ही संवाद में आँख फूट जाना, आशा बँधना, जान सूखना जैसे मुहावरे नजर आते हैं।

'मैला आँचल' के सन्दर्भ में बात की जाये, तो कहा जा सकता है कि रेणु ने अंचल की आंचलिकता को समग्रता में साक्षात् दिखाने के लिए स्थानीय भाषा की हूबहू प्रस्तुति नहीं की, क्योंकि यदि ऐसा किया होता, तो वे मैथिली में ही पूरा उपन्यास लिखते। वस्तुतः उन्होंने क्षेत्र विशेष की भाषा की प्रकृति से मेल खाती भाषा को, आंचलिक शब्दों का पुट देते हुए उसे आत्मविश्वास के साथ प्रयुक्त किया है। जो सराहनीय होने के साथ-साथ साहसिक भी था। साहसिक इस अर्थ में कि लेखक के लिए प्रतिष्ठित और साहित्य-रचना करने के क्रम में व्यापक स्तर पर प्रयोग की जानेवाली परिनिष्ठित हिन्दी में ही पूरे उपन्यास को लिखना आसान और सुरक्षित था। आंचलिक भाषा में उपन्यास लिखना ऐसा प्रयोग था जो संप्रेषणीयता में बाधा भी पहुँचा सकता था लेकिन महानता का यही लक्षण है कि असफलता से आशंकित और चिन्तित हुए बिना अभिनव प्रयोग करने सम्बन्धी प्रयास जारी रखे जायें। ऐसा ही सर्जनात्मक विशिष्ट कार्य भक्तिकाल में तुलसीदास ने किया था। संस्कृत के कुशल जानकार होते हुए भी उन्होंने 'रामचरित मानस' को संस्कृत में न लिखकर अवधी में रचने का जोखिम भरा कार्य किया। यह तय है कि मानस संस्कृत में रचा गया होता, तो उसकी पठनीयता तथा प्रसिद्धि का दायरा अपेक्षतया सीमित होता। वस्तुतः रचनाकार ने अवधी में रचकर 'मानस' को 'जनमानस' तक पहुँचा दिया।

रेणु की भाषा में आंचलिकता को साकार करने और बरकरार रखने का मुख्य आधार रहा है – शब्द-प्रयोग। मेरीगंज गाँव को ध्यान में रखते हुए उपन्यासकार ने उन शब्दों को प्रायः उसी तरह से व्यवहृत किया है जिस रूप में वहाँ के लोग प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ प्रयोगों को देखा जा सकता है – रमैन (रामायण) पृ. ११, जात्रा (यात्रा) १९, गियानी (ज्ञानी) २१, आंडोलन (आंदोलन) २१, अंतरधियान (अंतर्ध्यान) २४, दिब्बजोत (दिव्यज्योति) २४, सराध (श्राद्ध) ८५, राकस (राक्षस) १०५, मच्छड़ (मच्छर) १५१, भाखन (भाषण) २०१, उतसव (उत्सव) २१९, सुराज (स्वराज्य) २३१, परीच्छा (परीक्षा) २६०, आसरम (आश्रम) २७१, विदियारथी जी (विद्यार्थी जी) २७१। रचनाकार ने हिन्दी भाषा के शब्दों को ही जनसामान्य के लहजे के अनुरूप प्रयुक्त नहीं किया, अन्य भाषा के शब्दों को भी अंचल-विशेष के उच्चारण के अनुरूप व्यवहृत किया है, जैसे - डिस्टीबोट (डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) ११, टीशन (स्टेशन) ३३, इनकिलास जिंदाबाघ (इंकलाब जिंदाबाद) ३८, इसपिताल (हॉस्पिटल) ३८, हेमापेथी डागडर (होम्योपैथी डॉक्टर) ३९, हैकोठ (हाई कोर्ट) ५७, नंदन (लंदन) ५७, हरगिस (हरगिज) ७५, रिचरब (रिजर्व) ८५, लोटिस (नोटिस) ११९, पबलि (पब्लिक) १२०, लाजुक (नाजुक) १८३, लहास (लाश) १९९, मलेटरी (मिलेट्री) १९९, नकसा (नक्शा) २४५, करसामाँ (करिश्मा) २४६, सीकचिल्ली (शेखचिल्ली) २७७।

इस प्रकार के शब्दों को प्रयुक्त करके रचनाकार ने आंचलिक परिवेश को जीवन्त बनाने का सफल प्रयास किया है और इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि ऐसे प्रयोगों से पाठकों के लिए संप्रेषणगत किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। इसी कारणवश 'मैला आँचल' में कई स्थलों पर संप्रेषण के संभाव्य अवरोधों को दूर करने के लिए शब्दों के अर्थ, पाद-टिप्पणी के अन्तर्गत दे दिये गये हैं – गिलास (२१) = क्लास, चिप्पी (२३) = राशन, भैंसचरमन बाबू (२५) = वाइस चेयरमैन, खेकसियारी (३४) = लोमड़ी, रायबरेली (३८) = लायब्रेरी, जलखै (३९) = जलपान, स्टेट (२२७) = स्टेज आदि।

ऐसा देखने में आता है कि रेणु जब पाठकों से सीधे तौर पर संवाद करते हैं, तो उनकी भाषा मानक हिन्दी होती है जिसमें वाक्य-योजना खड़ीबोली हिन्दी के व्याकरण से अनुशासित होती है और स्वाभाविक रूप से शब्दों को उनकी मूल वर्तनी तथा उच्चारण के अनुरूप व्यवहृत किया गया होता है, जैसे – और अन्त में यादवटोली के लोग बालदेव के हाथ और कमर में रस्सी बाँधकर हो हल्ला मचाते हुए आये। उसकी कमर में बँधी हुई रस्सी को सभी पकड़े हुए हैं। फिरारी सुराजी को पकड़नेवालों को सरकार बहादुर की ओर से इनाम मिलता है – एक हजार, दो हजार, पाँच हजार! (मैला आँचल/पृ. १०)

वस्तुतः उपन्यासकार ने पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग का धर्म निभाते हुए, भाषा-प्रयोग के स्तर निर्धारित किये हैं। जहाँ कहीं शिक्षित और अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति का प्रसंग आता है, वहाँ रचनाकार ने मानक हिन्दी प्रयोगों को स्थान दिया है –

मिनिस्टर साहब का प्रशान्त के प्रति कथन : लेकिन सरकार तुमको विदेश भेज रही है।
(मैला आँचल, पृ. ५१)

डॉक्टर प्रशान्त का मिनिस्टर के प्रति उद्‌गार : मैं इसी नक्शे के किसी हिस्से में रहना चाहता हूँ। यह देखिए, यह है सहरसा का वह हिस्सा, जहाँ हर साल कोशी का तांडव नृत्य होता है। और यह पूर्णिया का पूर्वी अंचल जहाँ मलेरिया और काला-आज़ार हर साल मृत्यु की बाढ़ ले आते हैं। (मैला आँचल, पृ. ५१)

तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद का डॉक्टर प्रशान्त को सम्बोधित करके कहा गया कथन : डॉक्टर साहब, जरा एक बार मेरे यहाँ चलिए। मेरी लड़की बेहोश हो गई है। (मैला आँचल, पृ. ५३)।

इन उदाहरणों से विदित होता है कि रेणु ने आलोच्य कृति में आंचलिक भाषा के साथ-साथ खड़ी बोली को भी प्रसंगवश स्थान दिया है। इस तरह मानक हिन्दी और आंचलिक भाषा का द्वन्द्व रचकर उपन्यासकार ने अंचल विशेष की सामाजिक संरचना में विद्यमान द्वैत को बखूबी संकेतित किया है।

रचनाकार का चिन्तन भाषा में कैसे समाता है और भाषा उसके चिन्तन को कैसे साकार करती है, इसे 'मैला आँचल' में बड़े अच्छे ढंग से अनुभव किया जा सकता है। यदि चिन्तन से असंपृक्त होकर भाषा प्रयुक्त होती है, तो उसकी अर्थवत्ता अपेक्षाकृत विशिष्ट नहीं हो पाती और ऐसी स्थिति में भाषा, रचना में आरोपित सी लगती है। भाषा और चिन्तन की पारस्परिक पूरकता के कारण रचनाकार कई स्थानों पर सूक्ति-प्रयोग करता दृष्टिगत होता है। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं –

'डाक्टर का रिसर्च पूरा हो गया; एकदम कम्पलीट। वह बड़ा डॉक्टर हो गया। डॉक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है....। गरीबी और जहालत – इस रोग के दो कीटाणु हैं। (मैला आँचल, पृ. १७६) यहाँ अन्तिम वाक्य, रेणु की भूमिका में आये। 'शूल, धूल, कीचड़, कुरूपता' के पीछे निहित कारणों को प्रकट करता है। उपर्युक्त कथन अपनी अर्थवत्ता में 'मैला आँचल' के रोगों के कीटाणुओं की ओर तो संकेत करता ही है, साथ ही, समाज में जहाँ कहीं इस तरह की विद्रूपताएँ हैं, उन सबके पीछे निहित सक्रिय कारणों को भी निर्दिष्ट करता है।

मेरीगंज में लोग नाम पूछने के बाद ही 'जात' के बारे में पूछते हैं क्योंकि उपन्यासकार के अनुसार वहाँ के परिवेश में जाति होती है। सिर्फ हिन्दू कहने से ही पिंड नहीं छूट सकता। ब्राह्मण हैं? .... कौन ब्राह्मण! गौत्र क्या है? मूल कौन है? .... शहर में कोई किसी से जात नहीं पूछता। शहर के लोगों की जाति का क्या ठिकाना! लेकिन गाँव में तो बिना जाति के आपका पानी नहीं चल सकता। (मैला आँचल, पृ.४९)। इस तरह रेणु ने गाँव विशेष में 'जाति' के वर्चस्व को दिखलाने की कोशिश की है और संकेतित किया है कि कमोबेश पूरे भारत के गाँवों में जाति-प्रथा का बोलबाला है। लेखक ने अन्यत्र यह निष्कर्ष निकाला है कि जात क्या है? जात दो ही हैं, गरीब और दूसरी अमीर। (वही, पृ.१६९)। गरीब और अमीर जात का मेरीगंज के सन्दर्भ में उ़ल्लेख हुआ है, फिर भी अर्थगत व्यापकता में यह वाक्य समाज में सर्वत्र विद्यमान अमीर-गरीब के रूप में दो वर्गों की वास्तविकता को उजागर करता है। प्रशान्त का लोगों को

दिया गया उत्तर कि उसकी जात 'हिन्दुस्तानी' है, वास्तव में लेखक का सम्पूर्ण भारतवासियों के लिए सन्देश है कि लोगों को जातिगत सम्बोधन को भूलकर हिन्दुस्तानी के रूप में अपनी पहचान देनी चाहिए।

इस प्रकार डॉक्टर प्रशान्त कालीचरन से कहता है – संथाल और गैर-संथाल मैं नहीं जानता? मैं रोग और घावों की जाति के बारे में ही जानता हूँ। (मैला आँचल, पृ. २११)। रेणु ने डॉ. प्रशान्त के माध्यम से समाज को खोखला कर रहे जातिवादी दृष्टिकोण से अपनी असहमति जतायी है और समाज में व्याप्त गरीबी और रोग के मूल कारण, अशिक्षा, को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

'मैला आँचल' में व्यंग्य-तत्त्व गहराई से समाया हुआ है। उपन्यासकार ने व्यंग्य पैदा करने के लिए जरूरी नहीं कि चमत्कारिक भाषा का प्रयोग किया हो, लेकिन यह सत्य है कि उसने दक्ष प्रयोग से भाषा के द्वारा व्यंग्यमूलक चमत्कार अवश्य निष्पन्न किया है। प्रसंग है, वृद्ध 'महंथ साहेब' का जो 'लक्ष्मी' पर आसक्ति रखते हैं लेकिन जब सत्संग में एक नौजवान साधु लक्ष्मी की ओर टकटकी लगाकर देखने लगा, तो उनसे न रहा गया और वे बोल पड़े, "हो नौगछिया के नौजवान उदासी जी। अरे साहेब बचन पर धेयान दीजै जी! लछमी के सरीर पर क्या नैन गड़ाए हैं? माटी का सरीर तो मिथ्या है, साहेब, बचन सत्त (मैला आँचल, पृ. ४७)। यद्यपि ये उद्गार उन्होंने नौजवान साधु को देखकर प्रकट किये थे, तथापि वे व्यंग्य रूप में परिणत होकर सीधे 'महंत साहेब' पर मानों कटाक्ष कर रहे हों कि जब माटी का शरीर मिथ्या है तो स्वयं 'लक्ष्मी' पर से अपना ध्यान क्यों नहीं हटाते। व्यंग्य दोधारी तलवार की तरह उपन्यास में वर्णित वक्ता-श्रोता दोनों को आहत करता हुआ, सभी को जीवन की वास्तविकता का बोध कराता है। इसी प्रकार का व्यंग्य उपन्यासकार ने होली में गाये 'भँड़ौवा' में उभारने का प्रयत्न किया है –

> ढाक ढिन्ना, ताक ढिन्ना।
> अरे हो बुड़बक बभना, अरे हो बुड़बक बभना,
> चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाए।
>
> xxx xxx xxx xxx
>
> दिन भर पूजा पर आसन लमाके पोथी-पुरान बँचनियाँ
> रात के ततमाटोली के गलियन में जोतखीजी पतरा गननियाँ।
> कोई बुरा न माने होली है! होली है! (मैला आँचल, पृ. १२६)

यहाँ रेणु का गद्यकार कबीर के तेवरवाला व्यंग्य करता है और जाति की श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान को सोदाहरण और तर्कपूर्ण ढंग से चूर-चूर कर देता है। 'ढाक ढिन्ना, ताक ढिन्ना' ढोल की थाप का ही सूचक नहीं है, वह इस बात का भी संकेतक है कि आगे जो बात 'भँड़ौवे' में कही जा रही है, उसे डंके की चोट पर कहा जा रहा है और कथ्य देखकर ऐसा ही अनुभव होता है। थाप तो पड़ती है ढोल पर किन्तु चोट पड़ती है तथाकथित जातिवादी मनोवृत्ति पर। अन्त में 'कोई बुरा न माने होली है! होली है' कहकर पूरे कटाक्ष को होली का मज़ाक कह दिया

गया है, किन्तु इस प्रक्रिया में जोतखीजी के दोहरे चरित्र का पर्दाफाश कर दिया गया है। जोतखी जी का आचरण सहज ही प्रेमचन्द के गोदान में मातादीन और सिलिया के सम्बन्धों का प्रसंग स्मरण करवा देता है। यह आकस्मिक संयोग है कि 'गोदान' में भी होली-प्रसंग के माध्यम से झिंगुरी सिंह के अवांछित कार्यकलापों पर कटाक्ष किया गया है।

'मैला आँचल' के दूसरे खंड की शुरुआत जिस प्रश्नवाची वाक्य से होती है, वह है 'सुराज मिल गया?' इस प्रश्न का उत्तर वहाँ इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है - "अभी मिला नहीं है, पंद्रह तारीख को मिलेगा। ज्यादा दिनों की देर नहीं, अगले हफ्ता में ही मिल जाएगा। दिल्ली में बातचीत हो गई। .... हिन्दू लोग हिन्दुस्तान में मुसलमान लोग पाखिस्तान में चले जाएँगे।" (मैला आँचल, पृ. २१७)

'सुराज मिल गया?' एक प्रश्न है, जिज्ञासा है और कटाक्ष भी कि जब हिन्दू-मुसलमान अलग-अलग मुल्क़ों में बँट जायेंगे, तो क्या माना जायेगा कि वास्तव में स्वराज्य मिल गया! इसी बात से क्षुब्ध होकर उपन्यास के पात्र बावन दास कहते हैं, "अरे सुराज क्या कद्दू-कोंहड़ा है जो काटकर बँटेगा?" (मैला आँचल, पृ. २१८)

इस तरह उपन्यास में भाषा का विधान सर्वत्र इस तरह रचा गया है कि जहाँ कहीं असंगति, विद्रूपता और अनैतिकता है, वहाँ व्यंग्य का प्रखर तेवर देखते ही बनता है।

आंचलिक परिवेश के अनुरूप जनमानस किस तरह अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए लोक-जीवन से लिये गये दृष्टान्त अथवा अन्धविश्वास का आधार लेता है। एक प्रसंग देखा जा सकता है - "कालीचरन गर्दन ऐंठता हुआ चला गया। करैत साँप को गुस्से में ऐंठते देखा है न, ठीक उसी तरह।" (मैला आँचल, १६३) यहाँ करैत साँप का दृष्टान्त इस दृष्टि से जीवन्त और सार्थक लगता है कि लोगों ने, और विशेष रूप से गाँव के लोगों ने क़रैत साँप को ग़ुस्से से फुफकारते देखा होगा। इस तरह के दृष्टान्त से कालीचरन के क्रोध की भयावहता साकार हो उठी है। इस विवेचन-क्रम में एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है – "पारबती की माँ थी। डाइन है! तीन कुल में एक को भी नहीं छोड़ा। सबको खा गयी। पहले भतार को, इसके बाद देवर-देबरानी, बेटा-बेटी, सबको खा गयी। अब एक नाती है, उसको भी चबा रही है।" (मैला आंचल, पृ.९६) इस उद्धरण में पार्वती की माँ को डाइन कहना, फिर उसके क्रियाकलापों के अनुरूप, 'डाइन सबको खा गयी, उसको भी चबा रही है' जैसे शब्द तथा वाक्यों को प्रयुक्त करना उपन्यासकार के अंचल और आंचलिक भाषा के साथ गहरे तादात्म्य को लक्षित करता है।

आंचलिक परिवेश को जीवन्तता देने के उद्देश्य से रेणु ने 'मैला आँचल' में लोकगीत शैली की पंक्तियाँ रची हैं। प्रत्येक अंचल की अपनी संस्कृति होती है और लोकगीत उसके अभिन्न अंग हुआ करते हैं। समीक्ष्य उपन्यास में लोकगीतों की प्रस्तुति करके उपन्यासकार ने उसे (मैला आँचल) समग्र रूप से आंचलिक बनाने का प्रयास किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत लोकगीतों की विशेषता है कि वे किसी अवसर से जुड़े होने के साथ-साथ रचनाकार का वांछित संदेश भी देते चलते हैं। फगुआ गीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

आई रे होरिया आई फिर से!

आई रे।
गावत गाँधी राग मनोहर
चरखा चलावै बाबू राजेंदर
गूँजत भारत अमहाई रे! होरिया आई फिर से
वीर जमाहिर शान हमारो,
बल्लभ है अभिमान हमारो
जयप्रकाश जैसा भाई रे, होरिया आई। फिर से। (मैला आँचल, पृ. १२६)

यहाँ 'होरिया आई। फिर से' में 'फिर से' प्रयोग की व्यंजना है कि परतन्त्र दशा में रहने के दौरान होली आदि त्योहार मनाने में किसी प्रकार का उत्साह और जोश नहीं था, लेकिन आज़ादी मिलने पर होली मनाने में सबका उल्लास जाग गया है। 'होरिया आई फिर से' की आवृत्ति, लोगों के जीवन में जगी नयी आशा तथा उल्लास का संकेत करती है। 'भँड़ौवा' में जो व्यंग्य प्रस्तुत किया गया है, उसका वैशिष्ट्य भी इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य है जिसे विवेचनक्रम में पहले ही रेखांकित किया जा चुका है।

रेणु की भाषा में ध्वन्यात्मकता का विशेष आग्रह है। ढोल पर पड़ने वाली थाप वातावरण को ही जीवन्त नहीं करती, उसकी ध्वनियों से लेखक अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। ढोल की ध्वनियों के अभिप्राय को रचनाकार उल्लिखित भी करता जाता है –

ढिन्न ढिन्ना, ढिन्ना ढिन्ना..... !
अर्थात् आ जा, आ जा, आ जा, आ जा।
चटधा गिड़धा, चटधा गिड़धा!
आ जा भिड़जा, आ जा भिड़जा!
धागि ड़ागी, धागि ड़ागी, धागि ड़ागि!
कसकर पकड़ो, कसकर पकड़ो!
चटाक चटधा, चटाक चटधा!
उठा पटक दे, उठा पटक दे। (मैला आँचल, पृ. ६८)

रेणु को यह प्रयोग प्रिय और कारगर लगा। सम्भवतः इसी कारण से उन्होंने अपनी कहानी 'पहलवान की ढोलक' में इस तरह की भाषा-सृष्टि की है। लेखक किसी चीज का वर्णन करते समय उसे पाठकों के मन में मूर्त्त कराने के लिए उससे निष्पन्न होने वाली ध्वनियों की प्रस्तुति करने का प्रयास करता है –

टन-टनाक्, टन-टनाक्! सजाई हुई मोकनी हथिनी जा रही है।
ढन-ढन, ढनाँग-ढनाँग! कीर्तनियों का घड़ी घंट बोल रहा है।
घू-ऊ-ऊ-तू-तू-तू! शंखनाद (मैला आँचल, पृ. २२३)

रेणु के अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'परती परिकथा' में भी इस तरह के भाषा-प्रयोग हुए हैं –

'....टिड़िंग-टिड़िंग ! गुरुड़धुज झा सायकिल की घंटी बजाता हुआ आगे बढ़ गया।' (परती परिकथा, पृ. १६६)

'... चाँदी के रुपयों-जैसी पोठी मछलियाँ, परती पर झिरझिर पानी में छटपटा रही हैं – चित्-पट, चित्-पट, छट-पट, छट-पट !' (परती परिकथा, पृ. २०४)

'.... छि-ई-ई-छक्क ! गाड़ी हिली !' (तीसरी कसम, अर्थात् मारे गए गुलफाम, पृ. ८१)

रेणु अपने उपन्यास तथा कथा-साहित्य में ध्वन्यात्मक प्रयोग करके भाषा में नाट्यभाषा के समावेश सम्बन्धी अभिनव दृष्टि का परिचय देते हैं। कविता में नाट्यप्रयोग के काफ़ी उदाहरण हिन्दी साहित्य में मिलते हैं लेकिन कथा-साहित्य में फणीश्वरनाथ रेणु का नाट्यभाषागत प्रयोग सम्बन्धी सर्जनात्मक प्रयास सफल कहा जा सकता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रेणु ने 'मैला आँचल' में भाषा का इस तरह से सर्जनात्मक प्रयोग किया है कि समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियाँ / विकृतियाँ और उनके साथ विद्यमान कुछ अच्छाइयाँ साक्षात् होने लगती हैं और रेणु का उपर्युक्त उपन्यास की भूमिका में कहा गया वाक्य कि इसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी – मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया, अपनी सार्थकता प्रमाणित कर जाता है। अन्ततः यह बात उभरकर आती है कि आलोच्य उपन्यास में यथार्थ और भाषा का अद्वैत विद्यमान है और इस सन्दर्भ में राघव प्रकाश का यह कथन उद्धृत करना प्रासंगिक लगता है कि भाषा को अपना स्वरूप यथार्थ से प्राप्त होता है, उसका शब्द-भंडार, उसकी संयोजन-व्यवस्था, उसका सारा तर्क यथार्थ से उपजता है। यह कथन 'मैला आँचल' की भाषा के सन्दर्भ में भी ठीक मालूम पड़ता है जहाँ यथार्थ और भाषा, एकरूप हो गये हैं। प्रशान्त ने ममता को लिखे पत्र में भाषा और यथार्थ को समन्वित रूप से लिया है, "तुम जो भाषा बोलती हो, उसे यह नहीं समझ सकते। तुम इनकी भाषा नहीं समझ सकतीं। तुम जो खाती हो, ये नहीं खा सकते। तुम जो पहनती हो, ये नहीं पहन सकते। .... फिर तुम इन्हें आदमी कैसे कहती हो।" (मैला आँचल, पृ. १७५) इस द्वैत की परिणति उपन्यास में इस रूप में दिखायी देती है, "डाक्टर अब गाँव की भाषा समझता ही नहीं बोलता भी है। ग्राम्य गीतों को सुनकर वह केस-हिस्ट्री लिखना भी भूल जाता है। गीतों का अर्थ शायद वह ज्यादा समझता है।" (मैला आँचल, पृ. १८६)

इस तरह यथार्थ और भाषा की अन्विति का सफल प्रयत्न रेणु 'मैला आँचल' में करते हैं और यह बात उपन्यास और उसके रचयिता को हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान का हक़दार बनाती है।

‘बिहारी सतसई’ के संस्कृत अनुवादों / टीकाओं की परम्परा

– प्रवीण कुमार मिश्र

भारतीय इतिहास के कुछ ऐसे पन्नों पर जो भारतीय साहित्य, संस्कृति, कला, शिल्प तथा विज्ञान आदि के विकास, प्रचार एवं प्रसार की गाथा वर्णित करते हों, जब हमारी दृष्टि जाती है तो हम साहित्यविद्या के अनुरागी छात्र, विद्वान्, अन्वेषक अथवा समीक्षक यह पाते हैं कि भारतीय साहित्य-सर्जन के लगभग २५०० वर्षों की विशाल परम्परा में वाल्मीकि, व्यास, पाणिनि, पतञ्जलि एवं कालिदास आदि कुछ स्वनामधन्य साहित्य-सर्जकों की सूची में ऐसे भी विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न महाकवि हुए हैं जिनकी मात्र एक ही कृति भारतीय ही नहीं अपितु विश्व साहित्याकाश को अहर्निश आलोकित करती आ रही है। इस क्रम में वाल्मीकि से आरम्भ कर हिन्दी साहित्य के सूर, तुलसी, कबीर सहित महाकवि बिहारीलाल की गणना भी की जा सकती है।

कविवर बिहारी एवं उनकी एक मात्र अमर कृति ‘बिहारी सतसई’ अपनी रचना की सुखदान्त वेला से वर्तमान युग तक प्रतिपल इतनी ख्याति अर्जित करती आयी है कि उसकी प्रतिष्ठा, विशिष्टता एवं विलक्षणता को प्रस्तुत करना प्रायः असम्भव है। बिहारीकृत सतसई की इसी अननुमेय प्रतिष्ठा तथा सार्वजनीन लोकप्रियता के कारण इस मुक्तक ग्रन्थ के रचना-काल से अधुनापर्यन्त इस पर शताधिक टीकाओं, उपटीकाओं तथा अनुवाद ग्रन्थों का निर्माण होता रहा है। यद्यपि काव्य-संसार में बिहारी की प्रसिद्धि को प्रमाणित करने वाले अनेकानेक टीकाओं व अनुवाद ग्रन्थों का नाम काल के कपाल से मिट चुका है तथापि साहित्य मात्र के लिए जीने वाले अनेक स्वनामधन्य अनुसन्धित्सुओं की सूचनाओं तथा विवरणों में लगभग अस्सी टीकाओं-प्रटीकाओं सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं में हुए ‘बिहारी सतसई’ के अनुवादों की संख्या कविवर बिहारीकृत सतसई की प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के लिए पर्याप्ततर है।

इस शोधपत्र में ‘बिहारी सतसई’ की टीका, समीक्षा, आलोचना तथा बिहारी काव्य से सम्बद्ध सन्दर्भ ग्रन्थों में उपलब्ध ‘बिहारी सतसई’ की संस्कृत टीका व संस्कृत अनुवादों की सूचनाओं की विवेचना की जायेगी। यहाँ हम यह भी बात दें कि ‘बिहारी सतसई’ की चार संस्कृत टीकाओं अथवा अनुवादों की सूचना ही हमें विभिन्न शोध-सन्दर्भों से प्राप्त हो सकी है, जिनका विस्तृत परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इन सूचनाओं को हम इन्हें प्रस्तुत करने वाले विद्वानों तथा गवेषकों के क्रमबद्ध साक्ष्यों के अनुरूप प्रस्तुत करते जायेंगे जिससे टीकाओं तथा अनुवादों के ऐतिह्य, प्रामाणिकता एवं उपलब्धता आदि का पूरा ज्ञान हो सके।

(क) **संस्कृत गद्य-टीका**

१. **पण्डित अम्बिकादत्त व्यास :**

‘बिहारी सतसई’ पर उपलब्ध संस्कृत टीकाओं में प्रस्तुत संस्कृत गद्य-टीका का सर्वप्रथम

उल्लेख कविवर अम्बिकादत्त व्यास ने स्वयं के द्वारा रचित बिहारी सतसई की कुण्डलिया टीका जो कि 'बिहारी विहार' के नाम से प्रसिद्ध है, की भूमिका में यों किया है :

"इस अपूर्व टीका के रचयिता का नाम आदि से अंत तक ग्रंथ में कहीं नहीं है। टीका बहुत प्राचीन है। मुझे छपरा-निवासी बाबू शिवशंकर सहाय द्वारा एक (यह) पुस्तक मिली है। इसी जिले के सोमहुता ग्राम के निवासी कायस्थ बाबू गंगाविष्णु ने सं. १८४४ वैशाख शुक्ल तृतीया को इस पुस्तक को लिखा था। इस ग्रंथ के रचयिता ये बाबू गंगाविष्णु तो नहीं हो सकते क्योंकि अंत के चार ही पंक्ति तो इनकी लिखी है और वे भी विविध अशुद्धियों से भरी हैं। जिसने ऐसी उत्तम संस्कृत टीका बनाई है वह इतना अशुद्ध लेख नहीं लिख सकता। इस कारण ग्रंथकार कोई दूसरे ही विद्वान् थे। लल्लूलाल ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि "मैंने एक संस्कृत टीका देखी" सो यही संस्कृत टीका जान पड़ती है।" यद्यपि लल्लूलाल के समय में एक हरीप्रसाद कृत (सं. १८३७ मैं रचित) तथा यह संस्कृत टीका (सं. १८४४ की लिखित) ये दोनों ही ग्रंथ विद्यमान थे, (क्योंकि सं. १८७५ में लल्लूलाल ने निज लालचंद्रिका बनाई थी) तथापि हरिप्रसाद टीका कुछ दुर्लभ थी और यदि कथमपि वह मिली भी हो तो लल्लूलाल संस्कृत के ऐसे पंडित न थे कि उसे कथमपि वह समझ सकते। यह संस्कृत टीका अत्यंत सरल है और इसमें प्रत्येक दोहे के अलंकार, नायिका उक्ति आदि स्पष्ट रीति से कहे हैं। इसमें सरल दोहों पर केवल अलंकारादि ही कह दिए हैं टीका कुछ भी नहीं है। इस कारण यही विशेष संभव है कि लल्लूलाल ने इसी टीका से स्वरचना में सहायता ली हो।"[१]

व्यासजी के इस उद्धरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें यह टीका उपलब्ध हुई थी और ये उससे पूर्णतः परिचित भी थे।

२. लल्लूजी लाल :

आपके द्वारा 'बिहारी सतसई' पर 'लालचन्द्रिका' नामक टीका लिखी गयी है, जो कि कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज से ई. सन् १८१९ में प्रकाशित हुई थी, जिसमें आपने स्वीकार किया है कि 'हमने सात टीकाएँ देख, विचार कर लालचंद्रिका बनाई।' उन टीकाओं के नाम उन्होंने ये लिखे हैं – (१) अमरचन्द्रिका (२) अनवरचन्द्रिका (३) हरिप्रकाश टीका (४) कृष्ण कवि की कवित्त वाली टीका (५) कृष्ण लाल की टीका (६) पठान की कुंडलियों वाली टीका और (७) संस्कृत टीका।[२]

३. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन :

ध्यातव्य है कि लल्लूजी लाल की इस 'लालचन्द्रिका टीका' का सम्पादित संस्करण प्रख्यात भाषावैज्ञानिक एवं हिन्दी साहित्य के अन्वेषी जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के सम्पादकत्व में कलकत्ता से १८९६ ई. में प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका में इन्होंने 'बिहारी सतसई' के जिन संस्कृतानुवादों / टीकाओं की सूचना दी है उनमें इस संस्कृत गद्य टीका का उल्लेख नामतः भी नहीं किया है, जबकि ई. सन् १८१९ में प्रकाशित लालचन्द्रिका टीका के कर्त्ता लल्लूजी लाल

ने अपनी इसी लालचन्द्रिका.टीका में यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'हमने सात टीकाएँ देख, विचार कर लालचन्द्रिका बनाई।' और उन सात टीकाओं में एक संस्कृत टीका को भी लल्लूजी ने देखना स्वीकारा है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गियर्सन महोदय के सम्पादकत्व में प्रकाशित इस लालचन्द्रिका टीका में लल्लूजी द्वारा सूचित इस संस्कृत टीका से आप परिचित अवश्य होंगे परन्तु ये आपको हस्तगत नहीं हो सकी थी।

४. जगन्नाथ दास रत्नाकर :

हिन्दी साहित्य के स्वनामधन्य विद्वानों में बाबू रत्नाकरजी का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने भी बिहारी सतसई पर 'बिहारी रत्नाकर' नाम्नी अत्यन्त सुष्ठु टीका लिखी थी, जिसकी भूमिका--जो कि 'कविवर बिहारी' नामक एक सम्पूर्ण ग्रन्थ ही है – में इस संस्कृत गद्य-टीका का परिचय देते हुए 'बिहारी विहार' की भूमिका में उद्धृत व्यासजी की सूचना को ही प्रस्तुत कर दिया है। सम्भवतः रत्नाकरजी को प्रस्तुत संस्कृत गद्य टीका हस्तगत न हो सकी थी।

अब हम यहाँ बिहारी काव्य के कुछ ऐसे समीक्षकों का उल्लेख मात्र कर देना चाहते हैं जिन्होंने बिहारी सतसई की विभिन्न संस्कृत गद्य एवं पद्य टीकाओं की सूचना तो अपने-अपने ग्रन्थों में दी है परन्तु इन विद्वानों की सूचना के स्रोत या तो साक्षात् रत्नाकर हैं और नहीं तो कविवर अम्बिकादत्त व्यास स्वयं है। यथा - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[३], पण्डित सुधाकर पाण्डेय[४], डॉ. रमाशंकर तिवारी[५], रमेश मिश्र [६] एवं श्री हरदयालु सिंह [७]। आगे की सभी टीकाओं व अनुवादों के क्रम में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त विद्वानों ने जो सूचना दी है वह भी अम्बिकादत्त व्यास अथवा रत्नाकर के स्रोतों पर ही आधारित है।

(ख) आर्यागुम्फ टीका

१. पण्डित अम्बिकादत्त व्यास :

सुकवि व्यासजी ने इस पद्य टीका / अनुवाद का विवरण अपने बिहारी विहार की भूमिका भाग में यों दिया है : "यह आर्याओं में संस्कृत में बिहारीसतसई का अनुवाद है। यह ग्रन्थ बड़े परिश्रम से मेरे काका पण्डित राधावल्लभजी के द्वारा मिला है। इस ग्रन्थ के रचयिता काशीराज श्री चेतसिंह महाराज के प्रधान कवि, पण्डित हरिप्रसाद थे। इनने इस ग्रन्थ को संवत् १८३७ में पूर्ण किया। इनने ग्रन्थान्त में लिखा है कि :

श्रीचेतसिंहवचनादकारि भाषानुसारिसुखवचनैः।
आर्याभिरेष गुम्फो मुनिगुणवसुचन्द्रमितवर्षेः।।

इनने अपने विषय में अपने नाम छोड़ और कुछ भी न लिखा, जैसे –

"अनुचितरचनातः खलु क्षन्तव्यो मेऽपराधस्तैः।"

ग्रन्थारम्भ में इनने चेतसिंह की वंशावली भी दी है[८] तथा निदर्शन के लिए इनके अनुवाद वाले भी दो दोहे लिख दिये जाते हैं :

मूल :

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परें श्याम हरित दुति होइ।।

टीका :

सा राधा भवबाधां विबिधामपहरतु नागरिकी।
यस्यास्तनुतनुकान्त्या कान्तः श्यामो हरिर्भवति।।

मूल :

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गोहारि।
तजो मनो तारन विरद बारक बारनतारि।।

टीका :

दत्तमनाकर्णनमिह सम्यगथाभूद्वृथा ममाह्वानम्।
मन्ये तारणविरुदस्त्यक्तो द्विरदं समुत्तार्य्य।।

२. **लल्लूजी लाल :**

लल्लूजी ने अपनी लालचन्द्रिका टीका में जिन सात टीकाओं की परिगणना करायी है उनमें मात्र एक संस्कृत टीका का उन्होंने उल्लेख किया है । अतः यह स्पष्ट है कि उन्हें इस अभिधान की कोई टीका उपलब्ध नहीं थी।[९]

३. **सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन :**

सर ग्रियर्सन महाशय ने इसकी सूचना निम्नवत् दी है : "बनारस के महाराज चेतसिंह (१७७०-१७८१) के दरबार में आचार्य पण्डित हरिप्रसाद ने उत्कृष्ट संस्कृत छंदों में सतसई को रूपान्तर किया।"[१०] जिससे स्पष्ट है कि आर्यागुम्फ ग्रियर्सन को भी उपलब्ध नहीं था।

४. **जगन्नाथ दास रत्नाकर :**

इन्होंने अपने 'कविवर बिहारी' नामक ग्रन्थ में इस आर्यागुम्फ नामक अनुवाद का विवरण निम्नवत् दिया है : – "सैंतालीसवीं टीका सतसई के दोहों का आर्या छन्दों में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता काशीराज श्री चेतसिंह महाशय के प्रधान कवि पण्डित हरिप्रसाद जी थे। इस ग्रन्थ की रचना संवत् १८३७ में हुई थी। हमने स्वयं यह ग्रन्थ नहीं देखा है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी ने बिहारी-विहार की भूमिका में इसका विवरण दिया है, और निम्नलिखित दो दोहे उनके अनुवाद सहित निदर्शनार्थ दिये हैं।"[११]

स्पष्ट है कि इन्हें इस टीका की सूचना व्यास की बिहारी विहार से ही प्राप्त हुई है। यहाँ मैं उन विद्वान समीक्षकों का नामोल्लेख मात्र कर देना चाहता हूँ जिन्होंने स्वयं के ग्रन्थों में बिहारी सतसई की विभिन्न संस्कृत गद्य एवं पद्य टीकाओं की सूचना तो दी है परन्तु इन विद्वानों की सूचना का स्रोत या तो साक्षात् रत्नाकर हैं और नहीं तो कविवर अम्बिकादत्त व्यास स्वयं है, यथा – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[१२] पण्डित सुधाकर पाण्डेय[१३] डॉ. रमाशंकर तिवारी[१४] रमेश मिश्र[१५] श्री हरदयालु सिंह[१६] तथा देशराज सिंह भाटी।[१७]

(ग) शृंगार सप्तशती टीका

१. कविवर अम्बिकादत्त व्यास :

व्यासजी के द्वारा बिहारी सतसई के इस संस्कृतानुवाद की सूचना निम्नवत् दी गयी है :

"इस ग्रन्थ में प्रत्येक दोहे का अनुवाद संस्कृत दोहे में है और टीका भी संस्कृत में है। इस ग्रन्थ के रचयिता पण्डित परमानन्द थे। मैंने दस-ग्यारह वर्ष के वय में इनको देखा था। मुझे ठीक स्मरण है कि दशाश्वमेध के संगत में महन्त बाबा सुमेर सिंह शाहजादा के यहाँ मेरे पिताजी के साथ मैं बैठा था, साहित्य की बात कोई महन्त जी ने पूछी थी, मेरे पिताजी कह रहे थे इसी समय अकस्मात् बाबू हरिश्चन्द्रजी और उनके साथ पण्डित परमानन्द आए। पण्डित परमानन्द साँवले से थे। लगभग तीस (३०) वर्ष का वय था। मैली-सी धोती पहिरे मैली छीट को दोहर की मिर्जई पहने बनाती कन्टोप ओढ़े एक सड़ी सी दोहर शरीर पर डाले थे। बाबू साहब ने पिताजी से उनके गुण कहे। सुन के सब उनकी ओर देखने लगे। उनने अपनी हाथ की लिखी पोथी बगल से निकाली और थोड़ी बाच सुनाई और अपनी दशा कह सुनाई कि "मुझे (कन्या विवाह अथवा और कोई कारण कहा ठीक स्मरण नहीं) इस समय कुछ द्रव्य की आवश्यकता है इसी लिए चिर परिश्रम में यह ग्रन्थ बनाया कि किसी से व्यर्थ भिक्षा न माँगनी पड़े। अब मैं इस ग्रन्थ को लिए कितने ही राजा बाबुओं के यहा घूम चुका। कोई तो कविता के विषय में महादेव के वाहन मिले, कहीं के सभा पण्डित घुसने नहीं देते, कहीं संस्कृत के नाम से चिढ़, कोई रीझे तो भी पचा गए। कोई-कोई वाह! वाह! की भरती कर रह गए और कोई "अति प्रसन्नो दमड़ी ददाति" अब बाबू साहब का आश्रय लिया है।" थोड़े ही दिनों के अनन्तर बाबू साहब ने ५०० (पाँच सौ) मुद्रा और उनके मित्र रघुनाथ पण्डित प्रभृति ने २०० (दो सौ) यो दोहे पीछे एक (१) इनकी विदाई की। जो अनेक चँवर छत्रधारी राजाबाबू न कर सके, सो वैश्य बाबू हरिश्चन्द्र ने किया। हा! अब वह आसरा भी कविजन का टूट गया।"

पण्डित परमानन्द ने निज ग्रन्थ के आरम्भ में अपने गुणग्राहक बाबू हरिश्चन्द्र और पण्डित रघुनाथजी का तो अनेक श्लोकों से वर्णन किया है परन्तु अपने जन्म, वंश, स्थान आदि के विषय में कुछ भी न लिखा केवल एक श्लोक में ग्रन्थ-समाप्ति का संवत् दिया है उससे विदित हुआ कि इनके पितामह मुकुन्दभट्ट थे, पिता व्रजचन्द्र थे और यह ग्रन्थ संवत् १९२५ में बना। वे श्लोक ये हैं ;

पौत्रश्चैष मुकुंदभट्टविदुषः श्रांतश्चिरं संस्कृते
पुत्रः श्रीव्रजचन्द्रशर्म्मसुधियः प्रीत्यामहत्या तनोत्।
दोहासप्तशतीं समचिंतगुणो बुंदेलवंश्याधिपैः
शय्यां प्राप्य विहार्य्यभिख्यकृतिनो भाषाभृतायाः कृतेः।।
शरदृगनवचंद्रैर्युतो (?) वैक्रमाब्दगणनेन।
चैत्रकृष्णविष्णोस्तिथौ पूर्णाकृतिः सुखेन।।१८

२. लल्लूजी लाल :

ध्यातव्य है कि लल्लूजी ने अपनी लालचन्द्रिका टीका में संस्कृत तथा हिन्दी की जिन सात टीकाओं का नामोल्लेख किया है उनमें मात्र एक संस्कृत टीका की सूचना प्राप्त होती है तथा व्यासजी की सूचना के अनुसार इनके समय में हरिप्रसाद की बनायी आर्यागुम्फ टीका/ अनुवाद भी अपने अस्तित्व में तो थी लेकिन लल्लूजी को सम्भवतः उपलब्ध नहीं हो सकी थी, परन्तु ' शृंगार सप्तशती टीका' इनके द्वारा निर्मित लालचन्द्रिका टीका (संवत् १८७५) के पचास वर्षों बाद संवत् १९२५ में बनी थी, अतः इस टीका की सूचना इनके द्वारा न दिया जाना स्वाभाविक ही है।

३. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन :

इन्होंने लालचन्द्रिका के पुनर्सम्पादित संस्करण की भूमिका भाग में इस टीका का नाम "शृंगार रसिक सप्तशतिका" बतलाते हुए इसका परिचय निम्नांकित रूप में दिया है – "काशी के स्वर्गीय कवि हरिश्चन्द्र के लिये परमानन्द द्वारा संस्कृत में लिखित 'शृंगार-रसिक-सप्तशतिका' नामक एक सुष्ठु रूपान्तर (१८३८) है। इसको मैंने प्रस्तुत संस्करण के निर्माण में बड़ा उपयोगी पाया।"[१९]

४. जगन्नाथ दास रत्नाकर :

रत्नाकरजी को भी यह प्रति अवश्य प्राप्त थी; जिसकी सूचना इन्होंने यों दी है – "यह बिहारी के दोहों का दोहों ही में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता पं. परमानंद भट्ट ने सं. १९२५ में इसको बनाकर बाबू हरिश्चन्द्र तथा उनके मित्र रघुनाथ पण्डित को समर्पित किया था। ये बातें ग्रन्थारंभ के कुछ श्लोकों तथा अंत के एक संस्कृत दोहे से विदित होती हैं। ग्रंथारंभ के कुछ श्लोक ग्रंथकार ने श्री भारतेंदुजी तथा उनके मित्र रघुनाथ जी के वंश-वर्णन के दिये हैं, पर अपने विषय में इतना छोड़कर और कुछ नहीं लिखा हैं : अनुमतिमथाऽऽसाद्य .... विहार्य्यभिख्यकृतिनोभाषाभृताया; कृतेः।।१४।।

इन श्लोकों से इतना ही विदित होता है कि ग्रंथकार का नाम परमानन्द, उसके पिता का नाम व्रजचंद एवं पितामह का नाम मुकुंद भट्ट था, और इन दोनों गुणशालियों (श्रीभारतेंदुजी व श्रीरघुनाथ पंडित) के प्रीत्यर्थ बिहारी के दोहों पर संस्कृत दोहे बनाए गए। अंत का संवत् वाला दोहा भी दिया है।"

कविवर बिहारी कृत बिहारी सतसई के इस सर्वसुलभ संस्कृतानुवाद सहित टीका ग्रन्थ की सूचना जिन अन्यान्य साहित्यानुरागियों ने दी है उनके सुविख्यात अभिधानों सहित उनके रचित ग्रन्थों का उल्लेख मात्र कर देना सम्भवतः उचित होगा : यथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[२०] पण्डित सुधाकर पाण्डेय[२१] डॉ. रमाशंकर तिवारी[२२] रमेश मिश्र[२३] श्री हरदयालु सिंह[२४] तथा देशराज सिंह भाटी[२५]।

(घ) **एक अन्य संस्कृत गद्य टीका :**

१. **जगन्नाथ दास रत्नाकर :**

विदित है कि बिहारी सतसई पर उपलब्ध इस संस्कृत गद्य टीका का उल्लेख सर्वप्रथम श्री रत्नाकरजी ने ही किया है तथा इसका विवरण देते हुए कहा है कि – "अड़तालीसवीं टीका एक अन्य गद्य संस्कृत टीका है। हमारे पास इसकी एक आद्यंत तथा बीच-बीच में खंडित प्रति है, जिससे इसके रचयिता तथा रचना-काल इत्यादि का कुछ पता नहीं चलता। टीका बड़ी सुन्दर तथा बहुत ही सरल संस्कृत गद्य में है। दोहों के भावार्थ प्रकाश करने की इसमें पूर्ण चेष्टा की गई है। इसमें प्रति दोहे का एक छोटा सा अवतरण लिखकर उसके वक्ता, बोधव्य तथा नायिका-भेद बतलाए गये हैं। वास्तव में यह टीका देवकीनन्दन-टीका का एक प्रकार का अनुवाद मात्र है। कहीं-कहीं इसके कर्त्ता ने देवकीनन्दन टीका की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक्य भी कर दिया है। इस टीका के निदर्शनार्थ इसमें से एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है –

टीका – इयं नायिका रात्रौ पत्या सह प्रेमवार्ता कृत्वा सुरतस्पृहया जागरणं कृतवती। तनालसा प्रेमगर्वयुता चेति दृष्ट्वा सपत्न्या दुःखं जातम्। तद्दुःखं दूरीकर्तु तस्याः सखी तां वक्ति .... या दृष्ट्वा दुःखं कृतं सैवान्यसम्भोगदुः खितेति ज्ञेयम्।। २३१।।

इस टीका के विषय में हमारी पहले दो धारणाएँ थीं — एक तो यह कि कदाचित् यह टीका वही हो जिसकी चर्चा व्यासजी ने की थी। और दूसरी यह कि देवकीनन्दन टीका इस संस्कृत टीका के सहारे बनी है। पर इसे उलट-पलट कर देखने से हमारी ये दोनों भावनाएँ जाती रहीं, क्योंकि इसमें "तन भूषन अंजन दृगनु इत्यादि" दोहे की टीका के अन्त में यह लिखा है – "अन्योप्यर्थः श्री देवकीनन्दन-टीकातोऽवगंतव्यः"। इससे स्पष्ट ही प्रमाणित हो जाता है कि यह टीका देवकीनन्दन टीका के पश्चात् ही बनी है, और जो इस टीका तथा देवकीनन्दन टीका में साम्य है उसका कारण यह है कि यह देवकीनन्दन टीका का एक प्रकार का अनुवाद मात्र है जैसा कि ऊपर कहा गया है। देवकीनन्दन टीका सं. १८६१ में बनी और व्यासजी ने जो संस्कृत गद्य टीका की प्रति देखी थी वह सं. १८४४ की लिखी हुई थी, अतः यह टीका और व्यासजी की कथित टीका एक नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त बिहारी-विहार के अंत में दी हुई दोहों की सूची में जो व्यास जी कथित संस्कृत गद्य टीका के दोहों के अंक दिये हैं वे इस टीका के दोहों के अंकों से नहीं मिलते।"[२६]

२. **पण्डित सुधाकर पाण्डेय :**

पाण्डेय जी को यह टीका उपलब्ध नहीं थी तथापि रत्नाकर महोदय की सूचना के आधार पर ही इन्होंने इस टीका की सूचना लालचन्द्रिका के पुनर्सम्पादित अपने संस्करण में देते हुए कहा है कि – "यह सर्वतोभावेन देवकीनन्दन की टीका[२७] का अनुवाद तो नहीं है पर अधिकांश उसी का अनुवाद है। रत्नाकर जी को यह उपलब्ध थी। इसका आदि-अंत उपलब्ध था पर बीच-बीच में यह खंडित थी। यह टीका सरल और भाव को स्पष्ट करने की क्षमता से पूर्ण थी।

प्रस्तावना, नायिका भेद आदि का भी यथास्थान इसमें उल्लेख है। दोहे का क्रम देवकीनन्दन की टीका के आधार पर है। यह टीका वि. सं. १८६१ के पश्चात् की है।"[२८]

इसके अतिरिक्त भी बिहारी काव्य के विद्वान् समीक्षकों ने इस संस्कृत गद्य टीका की सूचना रत्नाकर महोदय के आधार पर ही प्रस्तुत की है जिनमें रमेश मिश्र[२९] श्री हरदयालु सिंह[३०] तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[३१] का उल्लेख किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी टीकाकारों, प्रतिष्ठालब्ध, अनेकानेक विद्वान अन्वेषकों तथा कविवर बिहारी के काव्य समीक्षकों के द्वारा 'बिहारी सतसई' की चार संस्कृत टीकाओं/अनुवादों की सूचना प्रस्तुत की गयी तथा इन टीकाओं तथा अनुवादों की उपलब्धता एवं अनुपलब्धता पर भी सविस्तार प्रकाश डाला गया। अब निष्कर्षस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि इन चार टीकाओं/अनुवादों में से 'आर्यागुम्फ' नामक टीका या अनुवाद को यदि छोड़ दिया जाये तो बाकी बचीं तीनों टीकाएँ या अनुवाद प्रायः सभी विद्वान अनुसन्धित्सुओं को उपलब्ध थीं, जबकि आर्यागुम्फ टीका या अनुवाद यदि किसी को उपलब्ध थी तो वे सुकवि पण्डित अम्बिकादत्त व्यासजी थे, जिन्होंने प्रथम बार बिहारी सतसई के इस उत्कृष्ट संस्कृत अनुवाद का विस्तृत विवरण तथा उसके दो संस्कृत पद्यों को निदर्शनार्थ अपने 'बिहारी विहार' की भूमिका भाग में प्रस्तुत कर इसके उपलब्ध होने का स्पष्ट भान कराया है। परन्तु इस उल्लेख के बाद यह अनुवाद तथा उसकी पांडुलिपि एक बार फिर साहित्याकाश से विलुप्त हो गयी, तथा ग्रियर्सन जैसे विलुप्त प्राच्य-विद्या के अन्वेषक को भी यह उपलब्ध नहीं हो सकी। स्वयं बिहारी-साहित्य पर अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने वाले जगन्नाथदास रत्नाकर तक को यह अनुवाद उपलब्ध नहीं हो सकी। किन्तु आज यह अपूर्ण अवस्था में ही सही पुनः उपलब्ध हो गयी है यह महत् सौभाग्य का विषय है।

काशी, नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जनवरी-मार्च २००५, अंक-४ के पृष्ठ संख्या : ७७ से ९७ पर "बिहारी सप्तशतिका,' बिहारी सतसई के एक उत्कृष्ट संस्कृत अनुवाद की दुर्लभ पांडुलिपि" शीर्षक लेख में इस अनुवाद की एक प्राचीन पाण्डुलिपि को ढूँढ़कर; अनुवाद, अनुवादक, आश्रयदाता तथा अनुवाद की विशेषताओं पर इस शोध-लेख के लेखक प्रताप कुमार मिश्र द्वारा विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है। अपने इस शोध-लेख के माध्यम से लेखक ने इस आर्यागुम्फ टीका को आर्याछन्द में बिहारी सतसई के दोहों का अनुवाद बताया है, तथा अपने इस प्रति/पाण्डुलिपि को मात्र अम्बिकादत्त व्यास को उपलब्ध इस अनुवाद की प्रति/पाण्डुलिपि से सर्वथा भिन्न सिद्ध किया है तथा 'बिहारी सप्तशतिका' के अभिधान से उपलब्ध इस अनुवाद की सूचना देते हुए इसे अर्पूण प्रति घोषित किया है, जिसमें मात्र १४१ पद्य तथा एक खण्डित पद्य सहित कुल १४२ पद्य है। इस अनुवाद की उत्कृष्टता के निदर्शनार्थ आठ-दस संस्कृत पद्यों को भी इस लेख में स्थान दिया गया है। लेखक के अनुसार – न तो उसके द्वारा सूचित प्रति में व्यासजी को उपलब्ध प्रति के समान राजा चेतसिंह की वंशावली दी गयी है और न ही बिहारी सतसई के मूल दोहे दिये गये हैं।

सन्दर्भ

१. 'बिहारी विहार', भूमिका भाग पृष्ठ-१९-२२, लेखक : पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, प्रकाशक : भारत जीवन प्रेस बनारस, सं. १९५४

२. व्यास जी ने 'बिहारी विहार' की भूमिका भाग में संस्कृत गद्य टीका की सूचना देते हुए यह सम्भावना जतायी है कि शायद यह संस्कृत गद्य टीका वही है जिसकी चर्चा लल्लूजी लाल ने अपनी लालचन्द्रिका टीका में की है।

३. 'बिहारी', प्रकाशक : वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी

४. 'बिहारी सतसई' (लालचन्द्रिका टीका) के पुनर्संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से संवत् २०३४ में प्रकाशित एवं पाण्डेयजी द्वारा सम्पादित।

५. 'बिहारी का काव्य-लालित्य', प्रथम संस्करण १९७० ई., प्रकाशक : ग्रन्थम् रामबाग, कानपुर, पृष्ठ संख्या : २८

६. 'बिहारी' (बिहारी सतसई की टीकाएँ), सम्पादक : डॉ. ओमप्रकाश, द्वितीय संस्करण १९७० ई., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या : १६४-१६५

७. 'बिहारी विभव', प्रथम वृत्ति संवत् १९९७, प्रकाशक : इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

८. महाराज चेतसिंहजी की वंशावली जो कि २२ पद्यों में उपलब्ध होती है, को व्यासजी ने अपनी बिहारी विहार की भूमिका भाग में प्रस्तुत किया है। देखें : बिहारी विहार, भूमिका भाग, पृ. १९-२२

९. व्यासजी ने लल्लूजी लाल के द्वारा इस टीका की प्राप्ति एवं अप्राप्ति के विषय में इस प्रकार की सम्भावना व्यक्त की है कि 'यद्यपि लल्लूलाल के समय में एक हरीप्रसाद कृत (सं. १८३७ में रचित) तथा यह संस्कृत टीका (सं. १८४४ की लिखित) ये दोनों ही ग्रंथ विद्यमान थे, (क्योंकि सं. १८७५ में लल्लूलाल ने निज लाल चन्द्रिका बनाई थी) तथापि हरिप्रसाद टीका कुछ दुर्लभ थी और यदि कथमपि वह मिली भी हो तो लल्लूलाल संस्कृत के ऐसे पंडित न थे कि उसे कथमपि वह समझ सकते।'

१०. 'बिहारी-सतसई' (लालचन्द्रिका-टीका), सम्पादक : ग्रियर्सन, कलकत्ता से १८९६ ई. में प्रकाशित, पृष्ठ संख्या : १५

११. कविवर बिहारी, लेखक : जगन्नाथदास रत्नाकर, पृष्ठ संख्या : २९७-२९८

१२. 'बिहारी', प्रकाशक : वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी

१३. बिहारी सतसई (लालचन्द्रिका टीका) के पुनर्संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से संवत् २०३४ में प्रकाशित एवं पाण्डेयजी द्वारा सम्पादित। 'नव परिशिष्ट' - ४, पृष्ठ संख्या - १८१

१४. 'बिहारी का काव्य-लालित्य', प्रथम संस्करण १९७० ई., प्रकाशक : ग्रन्थम् रामबाग, कानपुर, पृष्ठ संख्या : २८

१५. 'बिहारी' (बिहारी सतसई की टीकाएँ), सम्पादक : डॉ. ओमप्रकाश, द्वितीय संस्करण १९७० ई., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या : १६४-१६५

१६.'बिहारी विभव', प्रथम वृत्ति संवत् १९९७, प्रकाशक : इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पृष्ठ संख्या : ५९

१७.'बिहारी और उनका साहित्य', प्रथम संस्करण १९७१, प्रकाशक : विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा पृष्ठ संख्या : ६

१८.'बिहारी विहार', भूमिका भाग, पृष्ठ - २२-२३ लेखक : पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, प्रकाशक : भारत जीवन प्रेस बनारस, सं. १९५४

१९. 'बिहारी-सतसई' (लालचन्द्रिका-टीका), सम्पादक : ग्रियर्सन, कलकत्ता से १८९६ ई. में प्रकाशित, पृष्ठ संख्या : १५

२०.'बिहारी', प्रकाशक : वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी,

२१. बिहारी सतसई (लालचन्द्रिका टीका) के पुनर्संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से संवत् २०३४ में प्रकाशित एवं पाण्डेयजी द्वारा सम्पादित। 'नव परिशिष्ट'-४, पृष्ठ संख्या-१८१

२२.'बिहारी का काव्य-लालित्य', प्रथम संस्करण १९७० ई., प्रकाशक : ग्रन्थम् रामबाग, कानपुर, पृष्ठ संख्या : २८

२३.'बिहारी' सम्पादक : डॉ. ओमप्रकाश, (बिहारी सतसई की टीकाएँ), द्वितीय संस्करण १९७० ई. राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या : १६४-१६५

२४.'बिहारी विभव', प्रथम वृत्ति संवत् १९९७, प्रकाशक : इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पृष्ठ संख्या : ५९

२५.'बिहारी और उनका साहित्य', प्रथम संस्करण १९७१, प्रकाशक : विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृष्ठ संख्या : ६

२६.कविवर बिहारी, लेखक : जगन्नाथदास रत्नाकर, प्रकाशक : ग्रन्थकार, शिवाला वाराणसी, पृष्ठ संख्या-२९८-२९९

२७.इसके रचयिता 'ठाकुर कवि' ने बाबू देवकीनन्दन सिंह के प्रसन्नार्थ इसको संवत् १८६१ में रचा था।

२८.बिहारी सतसई (लालचन्द्रिका टीका) के पुनर्संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से संवत् २०३४ में प्रकाशित पाण्डेयजी द्वारा सम्पादित। 'नव परिशिष्ट'- ४, पृष्ठ संख्या - १८१

२९.'बिहारी' (बिहारी सतसई की टीकाएँ), सम्पादक : डॉ. ओमप्रकाश, द्वितीय संस्करण १९७० ई. राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या : १६४-१६५

३०.'बिहारी विभव', प्रथम वृत्ति, संवत् १९९७, प्रकाशक : इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पृष्ठ संख्या : ५९

३१.'बिहारी' प्रकाशक : वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी

प्राचीन मूर्तिकला में नारी-प्रतिमाएँ

- प्रसन्न पाट्कर

कला मानव मन की अभिव्यक्ति है जो विभिन्न रूपों में भारतीय कला में अभिव्यक्त की गयी है। कला से तात्पर्य सजावट तथा सरसता से है। प्राचीन काल से ही कला को आकर्षक बनाने के लिए विभिन्न अभिप्रायों के साथ मानव को भी अलंकरण के रूप में प्रयोग में लाया गया है, इसमें सर्वाधिक नारी प्रतिमाओं का अंकन ही देखने को मिलता है।

प्राचीनकालीन मनुष्यों अथवा कलाकारों ने शैलाश्रयों, मन्दिरों अथवा अपने निवास स्थान को आकर्षक बनाने के लिए उन पर विभिन्न प्रकार का अलंकरण किया। यह अलंकरण कला में इतना अधिक प्रचुर मात्रा में हुआ जो आकर्षण का केन्द्र बना।

भारतीय कला भारत के विचार, धर्म, तत्त्व, ज्ञान और संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जन-जीवन में अलंकरण की व्याख्या कला के माध्यम से की गयी है। वास्तुशिल्प, चित्र, कांस्य प्रतिमा, मृण्मयी प्रतिमा, दन्त-कर्म, मणि-कर्म, काष्ठ-कर्म, स्वर्ण-रजत-कर्म, वस्त्र-कर्म, इत्यादि के रूप में भारतीय कला की सामग्री अत्यधिक मात्रा में पायी जाती है। समय के अन्तराल के साथ विभिन्न दिशाओं, क्षेत्रों में भारतीय कला अपना प्रभाव दर्शाती रही है।

भारतीय कला का स्पष्ट एवं प्रामाणिक विवेचन मौर्य युग से आरम्भ होता है जिसमें स्तूप व स्तम्भ-निर्माण का बाहुल्य रहा है। स्तम्भ पशु-आकृतियों से अलंकृत किये गये। आन्ध्र सातवाहन तथा इक्ष्वाकू वंशीय नरेशों के काल में आन्ध्र देश की बौद्ध कला में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसका प्रतिनिधित्व अमरावती एवं नागार्जुन कोण्डा के स्तूपों पर उत्कीर्ण मूर्तिशिल्प द्वारा किया गया। यहाँ की मूर्तिकला सम्पूर्ण भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यहाँ उत्कीर्ण शाल भंजिकाएँ, मदनिकाएँ, अलस कन्याएँ तथा सुर-सुन्दरियाँ स्वर्गीय दृश्य प्रकट करती हैं।

कुषाण काल में दो परम्पराएँ प्रस्फुटित हुई जिनमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्मों के सामंजस्य का अद्भुत स्वरूप प्राप्त होता है। इन्हें मथुरा एवं गान्धार कला-शैली के रूप में भारतीय कला में स्थान दिया गया है। मथुरा की कला-परम्परा प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। इस कला-शैली में नारी-मूर्तियाँ प्रमुख हैं।

प्राचीन भारतीय धार्मिक एवं लौकिक कलाओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न विदेशी तत्त्वों का उपयोग किया गया। कुषाण काल में यही तत्त्व कला में गान्धार शैली के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गान्धार शैली के कलाकारों ने यहाँ की पूर्ववर्ती मूर्तिकला में भारतीय एवं यूनानी शैली का समन्वय किया। इस कला में गोष्ठी, कला, क्रीड़ा, सौन्दर्य-प्रसाधन तथा नृत्य-संगीत के दृश्य भी अत्यन्त आकर्षक हैं।

नारी-प्रतिमाओं में विभिन्न अंगों के उभार एवं इनकी शारीरिक लयता पर प्रमुखता से ध्यान दिया गया है। मूर्तियों में सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्त की झलक देखने को मिलती है। प्रतिमाओं के हस्त, पाद, कमर, वक्ष तथा मुख के आभूषणों में अद्‌भुत सन्तुलन है।

गुप्तकाल में शिल्प और कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गयी। प्राचीन भारतीय कला में गुप्त काल को स्वर्ण युग के रूप में स्वीकार किया गया। इस काल में अलंकरण की दृष्टि से अत्यधिक कार्य किया गया, किन्तु नारी-चित्रण अल्प मात्रा में अंकित किया गया।

पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकला मिथुन-चित्रण एवं नारी अंकन के लिए प्रसिद्ध है। ये प्रतिमाएँ विभिन्न मुद्राओं में मानव हृदय को आकर्षित करती हैं। इस काल की कला तात्कालिक जनसाधारण के धर्म को प्रतिबिम्बित करती हैं। इस काल के शासकों ने मूर्तियों के माध्यम से अपनी काम-वासना को महत्त्व दिया तथा धार्मिक स्थलों को कामोत्तेजक कलाकृति के द्वारा अलंकृत किया। पल्लवकालीन कला के विषय मुख्यतः पौराणिक कथाएँ, पार्श्व-देवता, प्राकृतिक दृश्य, ब्राह्मण देवता, बलिपशु तथा किंचित राजनीतिक व्यक्तित्व इत्यादि हैं। दक्षिण भारतीय कला द्रविड़ मूर्तिशिल्प की आधारशिला है। जंगल के दृश्यों में सुन्दर नारी-चित्रण प्रचुर मात्रा में अंकित हैं। ये आकृतियाँ न्यूनतम वस्त्रों में हैं। लगभग निर्वस्त्र की तरह अधिकांश आकृतियों को फूलों के साथ या मध्य में लताओं की तरह अंकित किया गया है।

मध्यकाल में नवीं शताब्दी से लगभग तेरहवीं शताब्दी तक मन्दिर-वास्तुकला के निर्माण में तीव्रता आ गयी। उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय शैली में अत्यधिक मन्दिरों का निर्माण हुआ। चन्देल राजाओं ने भारतीय शिल्प, स्थापत्य और वास्तुकला के गौरव के रूप में खजुराहो के मन्दिरों का निर्माण कराया।

खजुराहो के मन्दिरों में अनेक स्थानों पर अप्सराओं, देवी-देवताओं, आभूषित किन्नरियों और सुन्दर नर्तकियों का विभिन्न लयात्मक मुद्राओं में प्रदर्शन उल्लेखनीय है।

कला में नारी-मूर्तियाँ अपनी विविधता, सौन्दर्यप्रियता, भावप्रवणता एवं रणीयता के लिए अद्वितीय हैं। मध्ययुगीन मन्दिरों के स्तम्भों, बाहरी एवं भीतरी भित्तियों, आलों इत्यादि में ये प्रतिमाएँ चारों ओर से गढ़ी गयी हैं जबकि भित्तियों पर अंकित प्रतिमाओं को सामने की ओर से विशेष रूप से तराशा गया है। सुरसुन्दरी प्रतिमाओं के स्वरूप एवं शृंगार प्रसाधनों से सौन्दर्य एवं प्रेमाकर्षण की अत्यन्त मधुर झलक मन को झंकृत करती उठती है। ये सुरसुन्दरियाँ, अप्सराएँ, नर्तकियाँ विविध प्रकार की भिन्न-भिन्न आकर्षक मुद्राओं में मानव के मन और मस्तिष्क के भावों को मन्दिर-वास्तुकला तथा धर्म की ओर आकर्षित करतीं हैं। अनेक स्थलों पर उल्लसित अप्सराओं, विभूषित किन्नरियों और सुरसुन्दरियों की मुद्राओं और चेष्टाओं का प्रदर्शन बहुत ही सुन्दर और आकर्षक ढंग से किया गया है। ये प्रतिमाएँ मनुष्य के आकर्षण का केन्द्र हैं। विविध रूपों में नारी-प्रतिमाएँ मानव के अन्तर्मन को उत्तेजित होने के लिए विवश करती हैं। कलात्मक व कामुक रूप में उत्कीर्ण ये नारी प्रतिमाएँ कभी नृत्य करते हुए, कभी क्रीड़ा करते हुए, कभी वृक्ष की शाखा पकड़े हुए अपने मनोभाव व्यक्त करते हुए, कभी अशोक

वृक्ष को स्पर्श कर पुष्पित करते हुए, कभी लाज-शर्म ओढ़े हुए इंतजार की मुद्रा में, कभी पत्र लिखते, कभी पैरों से काँटा निकालते हुए, कभी बाल निचोड़ते हुए, दर्पण निहारते हुए, श्रृंगार प्रसाधन करती त्रिभंग मुद्रा में हाव-भाव प्रदर्शित करते अपने वक्षों को स्पर्श करते हुए, शिशु को दुग्धपान कराते, कभी अत्यधिक कामोत्तेजित होकर अपने वस्त्रों की गाँठ खोलकर नग्न होने का प्रयास करती हुई भारतीय कला की सर्वाधिक आकर्षक एवं लयात्मक कृति हैं।

खजुराहो के अधिकतम मन्दिरों में मैथुनरत नारी-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन के क्रियाकलापों में, नर्तकी के रूप में, अलंकृत मुद्रा में, सुर-सुन्दरियाँ, देव-दासियाँ, नाग-कन्याएँ इत्यादि विभिन्न भाव-भंगिमाओं में अलंकृत हैं। स्तम्भों के ऊपरी भाग में चौकी के ऊपर नीचे की ओर भार-साधकों का एवं उनके मध्य में नारी-मूर्तियों (अप्सराओं) का विभिन्न मुद्राओं में अंकन किया गया है। अन्य प्रतिमाएँ वाद्ययन्त्र के साथ वितान साधते हुए प्रतीत होती हैं जो कला की पराकाष्ठा प्रतीत होती है। प्रतीक्षा-कक्षा में सुरसन्दरी की मूर्ति है जिसमें नाभि-दर्शन, सुरसुन्दरियों के मांसल अंग-दर्शन अत्यन्त आकर्षक और भंगिमायुक्त हैं तथा तरंगित वल्लरी के समान लहराती हुई दिखायी गयी है।

कल्चुरी काल की कला-शैली में नारी-प्रतिमाओं का आकार सामान्य मूर्तियों की अपेक्षा बड़ा है। कला के विभिन्न माध्यमों में मूर्तिकला निःसन्देह सर्वाधिक सशक्त और बहुआयामी रही है जिसमें धर्म और जीवन कला एवं क्षेत्र के सन्दर्भ में विविधता और विस्तार सहित व्यक्त हुआ है। यह विचार मध्यकालीन मूर्तिकला में अधिक स्पष्ट है जिसमें जीवन का दर्शन भी छिपा है। इस कारण श्रृंगारप्रधान या कामसम्बन्धी मूर्तियों की व्याख्या की आवश्यकता पड़ी। शिल्प की तकनीकी दक्षता श्रेष्ठतम स्तर पर अभिव्यक्त हुई। मूर्तियों के निर्माण में भाव की अपेक्षा रूपसज्जा पर शिल्पी का अधिक विश्वास था। इस काल में देवी-देवताओं के अतिरिक्त अप्सराओं, अलस कन्याओं, सुरसुन्दरियों, गन्धर्व, किन्नर, नर्तकियों, काम-कला से सम्बन्धित अंकनों एवं लौकिक पक्षों से सम्बन्धित युद्ध, आखेट, संगीत-शिक्षा, नर-लीला जैसे विविध दृश्यों में नारी और पुरुष को भिन्न-भिन्न रूपों, मुद्राओं में दर्शाया गया है। यहाँ सौन्दर्य और श्रृंगार की विविधता के साथ नारी-अंकन देखने को मिलता है।

भारतीय कला में नारी-मूर्तियों के अंकन में उनके अंगों की मृदुलता और कमनीयता पर विशेष बल दिया गया है। मन्दिर-वास्तुकला के प्रथम दर्शन में ही मानव अलंकरण व्यक्ति के मन को प्रभावित करता है। कला 'काम' का ही एक अंग है, अतः नारी-प्रतिमाएँ काम-कला के रूप में अत्यधिक प्रदर्शित की गयी हैं, किन्तु सभी प्रतिमाएँ सौन्दर्य की पराकाष्ठा से प्रकल्पित हैं। प्रायः सभी नारी-प्रतिमाओं की शरीर-रचना में स्वाभाविकता, सहजता, मृदुता, लयात्मकता एवं गतिशीलता का क्रमशः विकास प्रदर्शित होता है।

ग्रन्थ-चर्चा

महान् शिक्षाविद् कर्मवीर भाऊराव पाटील (जीवनगाथा)

लेखक : मोहन जाधव, प्रकाशक : अन्नपूर्णा प्रकाशन, साकेत नगर, कानपुर, पृष्ठ १२०, मूल्य १७५ रुपये, प्रकाशन वर्ष : २००७ ।

महाराष्ट्र में सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्थान के लिए कार्य करनेवाले महापुरुषों की दीर्घ परम्परा रही है। ज्योतिबा फुले, शाहू महाराज, भीमराव आम्बेडकर आदि ने मराठी समाज को चैतन्य करने के लिए जनजागृति के प्रयास किये। कर्मवीर भाऊराव पाटील भी इसी परम्परा में आते हैं । उन्होंने महाराष्ट्र में सामाजिक उत्थान और शैक्षिक प्रगति के लिए अथक प्रयास किये। वस्तुत: उनकी शिक्षानीति और समाजनीति अलग नहीं थी। सामाजिक उत्थान के लिए उन्होंने शिक्षा को हथियार बनाया। उनका विश्वास था कि शिक्षा का प्रसार होने के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ स्वयं दूर हो जायेंगी। मानव-मानव में कोई भेद नहीं रह जायेगा। ऊंच-नीच की भावना समाप्त हो जायेगी। समाज में शहरों में तथा उच्च वर्ग के लिए शिक्षा का कुछ सुयोग था, लेकिन निम्नवर्गीय समाज, किसान और दूर-दराज के लोगों के बालकों का शिक्षाजगत् में प्रवेश सहज नहीं था। उनके पहले शाहू महाराज ने इस दिशा में कुछ प्रयास किये थे, किन्तु उन्होंने विभिन्न जाति-वर्ग के लिए अलग-अलग छात्रावासों की व्यवस्था की थी। भाऊराव ने इन समस्त बन्धनों से आगे जा कर समस्त जाति और वर्ग के छात्रों के लिए एक ही छात्रावास में पठन-पाठन, भोजन-आवास आदि की व्यवस्था की थी। यही नहीं उन्होंने एक कदम और आगे बढ़ कर इस दिशा में अभिनव प्रयोग किये। उन्होंने श्रमदान के आधार पर विद्यार्थियों की निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की। श्रम, कर्म और शिक्षा के अद्भुत संयोग द्वारा उन्होंने स्वावलम्बन, चरित्र-निर्माण, सामाजिक-राष्ट्रीय उत्थान के ध्येय को प्राप्त किया। इसी कारण महाराष्ट्र की जनता ने उन्हें कर्मवीर की उपाधि प्रदान की।

आलोच्य ग्रन्थ में डॉ. जाधव ने भाऊराव पाटील के जीवन और कर्म का विवेचन किया है। यद्यपि अब तक उन पर अंग्रेजी में चार, हिन्दी में छह और मराठी में छियालीस ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ की अपनी सार्थकता है। इसमें विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर्मवीर भाऊराव पाटील के जीवनवृत्त (१८८७-१९५९), उनके संघर्ष, उनकी निष्ठा और उदार मानवीय चेतना का वर्णन प्रभावोत्पादक रूप में किया गया है। इस प्रेरणाप्रद ग्रन्थ के द्वारा निश्चय ही एक महान् कर्मयोगी का संदेश प्रचारित होगा।

भाऊराव का जन्म महाराष्ट्र में सांगली जिले के ऐतवडे गाँव में एक जैन परिवार में हुआ था। उनके पितामह देवगौंडा कोल्हापुर के जैन मठ के प्रबंधक थे। उनके पिता पायगांडा पाटील तहसील के दफतर में नौकरी करते थे। भाऊराव बचपन से ही विद्रोही प्रवृत्ति के थे और किसी भी प्रकार के अन्याय को सहन नहीं करते थे। जात-पाँत, ऊँच-नीच, छूआ-छूत की भावना को उन्होंने शुरू से ही स्वीकार नहीं किया। लेखक ने भाऊराव के जीवन की घटनाओं के वर्णन

द्वारा इस बात को समझाया है। अपनी इस वृत्ति के कारण उन्हें कोल्हापुर के छात्रावास से निष्कासित कर दिया गया। इसी समय वे छत्रपति शाहू महाराज के सम्पर्क में आये । इस सत्संग का भाऊराव के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। यहीं उन्होंने छत्रपति शाहू के सामाजिक सुधार विषयक विचार सुने और शिक्षा प्रसार में दीन-दलितों के उद्धार की योजनाओं से परिचित हुए। यद्यपि भाऊराव स्वयं छठी कक्षा से आगे नहीं बढ़ सके थे, लेकिन उन्होंने हजारों छात्रों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की। उन्होंने सर्वप्रथम ज्ञानदेव घोलप नामक एक हरिजन छात्र को लेकर शिक्षाकार्य का शुभारम्भ किया। १९०९ में शिक्षा प्रसार के लिए दूधगाँव छात्राश्रम की स्थापना की। तत्पश्चात् १९१९ में काले (जिला सातारा) में 'रयत शिक्षण संस्था' की स्थापना की। महाराष्ट्र के कई जिलों में इस शिक्षण संस्था का प्रसार हुआ। इस संस्था के तत्त्वावधान में प्राथमिक विद्यालय से लेकर महाविद्यालय और शिक्षण प्रशिक्षण केन्द्र तथा तकनीकी शिक्षा केन्द्र भी खोले गये। महात्मा फुले, राजर्षि शाहू तथा महात्मा गांधी के विचारों से प्रेरित होकर कर्मठ कर्मवीर ने निष्ठावान अध्यापकों और छात्रों की फौज तैयार कर ली। रयत शिक्षण संस्था का उद्देश्य था- समाज के निचले तबके तक शिक्षा का प्रकाश पहुँचाना, सामाजिक भेदभाव को दूर करना तथा छात्रों को स्वावलम्बी, मितव्ययी और परिश्रमी बना कर राष्ट्रनिर्माण के कार्य में भागीदार बनाना। इनकी सहधर्मिणी लक्ष्मीबाई ने भी इस संस्था के लिए अपना सर्वस्व अर्पित किया– इस कार्य के लिए उन्हें अपना मंगलसूत्र तक गिरवी रखना पड़ा था। महात्मा गांधी रयत शिक्षण संस्था की कार्यविधि, यहाँ के छात्रों की जीवनचर्या और कर्मवीर की कार्यनिष्ठा से अत्यन्त प्रभावित हुए थे तथा उन्होंने हरिजन सेवक संघ की ओर से इस संस्था को पाँच सौ रुपये वार्षिक अनुदान की व्यवस्था भी की थी। कर्मवीर भाऊराव पाटील द्वारा स्थापित रयत शिक्षण संस्था ने शिक्षा के प्रसार, जातिभेद उन्मूलन और पिछड़े समाज में जागृति लाने का महान कार्य किया। कर्मवीर भाऊराव पाटील का यश सारे देश में फैल गया। उनके इस कार्य की स्वीकृति हेतु भारत सरकार ने उन्हें १९५९ में पद्मभूषण के सम्मान से सम्मानित किया। आज भी महाराष्ट्र में समाज, शिक्षा, राजनीति और प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में रयत शिक्षण संस्था के छात्र अग्रणी भूमिका में है। लेखक स्वयं भी इस शिक्षण संस्था से सम्बद्ध रहा है। जिसके कारण उसे कर्मवीर भाऊराव पाटील की जीवनगाथा, उनके कार्य और रयत शिक्षण संस्था की विशेषताओं को प्रस्तुत करने में पूर्ण सफलता मिली है।

जलगीत

लेखक : एन. गोपि, अनुवाद : पी. माणिक्याम्बा,
प्रकाशक : प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. १०४, मूल्य १०० रु., प्रकाशन वर्ष : २००५

तेलुगु के सुप्रसिद्ध कवि, चिन्तक एवं आलोचक एन गोपि (गोपाल) का हिन्दी में अनूदित यह पहला काव्यसंग्रह है। वस्तुत: 'जलगीत' को काव्यसंग्रह न कह कर एक सम्पूर्ण कविता कहना ही समीचीन होगा। क्योंकि संख्या की दृष्टि से इसमें सत्ताईस कविताएँ हैं, किन्तु इनमें

एक तारतम्य है और ये कविताएँ सम्पूर्ण जलचक्र को प्रस्तुत करते हुए जलगाथा के रूप में हमारे सामने आती हैं – इसे हम जल की महागाथा भी कह सकते हैं।

यहाँ प्रस्तुत वर्णन जल है किन्तु जल के माध्यम से कवि ने एक सम्पूर्ण जीवन-चेतना और प्रकृति-चेतना के साथ-साथ विश्व-व्यवस्था पर नये सिरे से सोचने-विचारने पर बल दिया है। यह सोच-विचार केवल जल के निमित्त नहीं है, सम्पूर्ण मानव, विश्व और ब्रह्माण्ड के लिए है। जल को बचाना मानव-जाति को बचाना है, सम्पूर्ण जीवजगत्, प्रकृति और विश्व को बचाना है। हवा की तरह जल पर भी सम्पूर्ण प्राणिजगत् का सहज अधिकार है किन्तु आज स्थिति ऐसी भयावह हो रही है कि न हवा ही दूषणमुक्त है और न पानी ही। यही नहीं इस प्रदूषित जल के अधिकार से भी लोगों को वंचित करने की कोशिश की जा रही है। जमीन पर अधिकार और स्वामित्व पाने की तरह पानी पर भी अधिकार करने की कोशिश की जा रही है। इस कोशिश में राष्ट्रव्यवस्था और वणिज्व्यवस्था दोनों से सहायता मिल रही है। एक ओर तालाब, कुएँ, बावड़ी के जल सूख रहे हैं या प्रदूषित हो रहे हैं तो दूसरी ओर प्रकृति के इस सहज उपहार पर अधिकार कर उसे बेचने की कोशिश की जा रही है। तात्कालिक लाभ के इस भेड़ियाधसान में लोग अपने वास्तविक लाभ को भूल रहे हैं। यह नहीं समझ पा रहे हैं कि जल है तो जीवन है, जल है तभी सारा संसार है। मनुष्य की इस कुप्रवृत्ति का प्रतिरोध भी हो रहा है। राजस्थान में राजेन्द्र सिंह ने अपनी निष्ठा एवं कर्मठता से एक जन-आन्दोलन ही खड़ा कर दिया। इसलिए एन गोपि ने प्रस्तुत कृति को जन-आन्दोलन के प्रतीक रेमन मेगसेसे पुरस्कार से सम्मानित राजेन्द्र सिंह को समर्पित किया है।

जलगीत वस्तुतः प्रकृति-पूजा का गीत है। इस सम्पूर्ण प्रकृति को कवि ने चेतन रूप में प्रस्तुत किया है – जो मनुष्य के सुख-दुःख, जीवन-मरण, आनन्द-उल्लास में सहभागी है। जल ही नहीं, नदी, झरने, पहाड़, मेघ, सागर सभी हृदयवान हैं। सब अपने लगते हैं। ये जड़ नहीं– इनका निर्माण मनुष्य के कल्याण के लिए ही हुआ है। किन्तु मनुष्य अपने ही अकल्याण में लगा हुआ है। पहाड़ों को तोड़ने में, नदियों को सुखाने में, हवा को विषाक्त करने में ही अपनी वीरता समझ रहा है।

कवि ने जलगीत के सत्ताईस गीतों में योजनाबद्ध रूप से सम्पूर्ण जलचक्र–बूँद से समुद्र और समुद्र से बूँद का तक का वर्णन अत्यन्त आत्मीय और प्रभावकारी रूप में किया है। जल का कोई पक्ष, कोई तत्त्व, कोई रूप यहाँ अछूता नहीं है। पहली कविता में कवि ने जल के विषय में आदिम जिज्ञासा प्रकट की है – 'किन ब्रह्माण्डों के अन्तराल से/ ढुलक आया पानी।'... 'आया कहाँ से ! कितने लोकों को लाँघ कर।' यह जल पृथ्वी पर जीवन लानेवाला है। सुदूर गगनों ने इन्हें उपहार के प्रकाश के रूप में भेजा है। ये जलकण नहीं जीवकण हैं – 'इस नीले-नीले गोलाकार के साथ/ अतिथि बन आये/ हे अपूर्व जीवकण !'.... 'तुम जहाँ भर गये/ वह हर जलाशय/ एक गर्भाशय हो गया।'

कवि ने एक ओर पर्वत-पहाड़, नदी-झरने, कुएँ-तालाब, समुद्र-हिमखंड और ओसकण से

लेकर वर्षा की झड़ी तक का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर जल के माध्यम से समस्त मानवीय संस्कृति के विकास की ओर भी संकेत किया है। मानवीय संस्कृति का विकास वस्तुतः जल संस्कृति का विकास है। अधिकांश सभ्यताएँ नदियों के किनारे विकसित हुईं इसलिए कवि सरयू और वाल्मीकि, कालिदास और आषाढ़ के मेघ, गोदावरी और तेलुगु के आदि कवि नन्नया को एक साथ याद करता है और उसकी दृष्टि में 'पानी को जानना ही/स्वयं को जानना है ।' जलगीत की कविताओं में कवि ने एक ओर पानी के महत्त्व का वर्णन किया है तो दूसरी ओर उसमें सम्पूर्ण भारतवर्ष की प्रकृति और वैश्विक चेतना को भी समेट लिया है। यह पानी की भूमंडलीय चेतना है। यहाँ विन्ध्याचल, सतपुड़ा, हिमालय, सोन, नर्मदा, कावेरी, शतद्रवा, ब्रह्मपुत्र, यमुना, कृष्णा-गोदावरी के साथ-साथ न्याग्रा, कोलारोडे, विक्टोरिया जलप्रपात है तो आन्ध्र में कुंटाला और हैदराबाद का हुसैन सागर भी है। मेघ सरहदें नहीं बनाता, समुद्र सँकरीला नहीं किन्तु मनुष्य ने धरती को सीमाओं में बाँध लिया और अब पानी बाँधने की तैयारी है – 'समस्त जलराशि को/ शीशों में उतारो/ गरीबों के होठों की/प्यास को मारो।'

कवि को धरती प्यारी है क्योंकि यहाँ जल है। चाँद बहुत सुन्दर है किन्तु जलविहीन चांद किस काम का? वहाँ न सिर झुका कर कूदने वाले झरने हैं, न नयागरा है। यही जल पंचभूतों का समन्वयकारी है। कवि की दृष्टि में जल का कोई भी रूप छूटा नहीं है – 'पानी अनेक रूप धारण करता है/ श्रमजल हाथ नहीं आया तो/ आँसू उसका परिणाम है। पानी को संचित करने के लिए घड़ा बनाने में भी पानी चाहिए, रोटी बनाने में आटा गूँथने के लिए भी पानी चाहिए। मनुष्य का जन्म भी तो पानी में ही हुआ है, जननी के गर्भ में वह नौ महीने तैरता है। लेकिन मनुष्य जल के इस महत्त्व को भूल गया–

क्रूरता से
समस्त जल के आर-पार
फैला दिया है अपना जाल
बादलों के थनों से
धार बन बरसते क्षीर में
विष घोल रहा है।
परनाले हलाहल बन गये
नदियों के तन पर फोड़े फूट पड़े
सागर की हुंकार में सिसकियाँ भर गयीं?
जिन किनारों पर ज्ञान विकसित था हुआ
वाणिज्य ने वहाँ फन फैला दिया।

लेकिन कवि पूर्णतः आशावादी है। अरावली की पहाड़ियों में जैसे एक भगीरथ ने जन्म लिया है वैसे ही अनेक भगीरथ का आविर्भाव होगा। लोग जल के मन्दिर बनायेंगे क्योंकि उसी में वास्तविक भगवान हैं।

जलगीत की कविताओं में केवल जल का गुणगान नहीं बल्कि जल को केन्द्र में रखते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मध्य धरती का सौन्दर्य निरखना है – उसकी विशेषता देखनी है। यह द्रष्टा देशकाल की सीमा से बाहर आकर सम्पूर्ण पृथ्वी का प्रतिनिधित्व करनेवाला मनुष्य है। यह जल के माध्यम से समस्त परिवेश और प्रदूषण पर चेतन मनुष्य की गहरी चिन्ता है। इसमें नल्लगोंडा से लेकर अफ्रीका तक फ्लोरोसिस बीमारी से पीड़ित लाखों लोगों के प्रति हमदर्दी है। कवि की चिन्ता है कि हम पानी को नहीं बचायेंगे तो कल चित्ररंगों के लिए भी पानी नहीं मिलेगा, इसलिए वह पूरी धरती को हरीतिमामय देखना चाहता है –

वर्षा के लिए नहीं
प्यास के लिए छतरी उठाओ
हरी-हरी छतरियाँ।
जंगलों की हरित छतरियों से
अनमोल निधियों को बचाओ।

पी. माणिक्याम्बा ने जलगीत का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है। जल के माध्यम से अभिव्यक्त कवि की आत्मीयता अपने सम्पूर्ण भावों के साथ अवतरित है। इस आत्मीयता के कारण अनुवाद की भाषा में भी एक नवीन सौन्दर्य की झलक दिखायी पड़ती है। पुस्तक का मुद्रण, उसकी साज-सज्जा और सम्पूर्ण प्रस्तुति आकर्षक है।

– रामेश्वर मिश्र

मक़ता : ज़फ़र ऑन ज़फर

लेखक : संजय गर्ग
प्रकाशक : एशियन एडूकेशनल सर्विसेज़, नयी दिल्ली, पृ. ११२, मूल्य १७० रु., प्रकाशन वर्ष : २००६

किसी भाषा या साहित्य की समृद्धि या उन्नति में अन्य तत्त्वों के योगदान के अतिरिक्त एक तत्त्व है अन्य भाषाओं और साहित्य के शब्दों को स्वीकारने की क्षमता। जिस भाषा में यह क्षमता जितनी अधिक और उन्नत होगी वह भाषा और उसका साहित्य उतना ही समृद्ध और लोकप्रिय होगा। किन्तु भाषा की यह क्षमता निर्भर करती है उस भाषा के साहित्यकारों की अन्तर्भाषी एवं अन्तर्साहित्यिक आदान-प्रदान की अभिरुचि, कला और समावेश प्रवृत्ति पर। भारतीय भाषाओं में हिन्दी एक ऐसी भाषा रही है जिसमें यह क्षमता सबसे अधिक पायी जाती है। यही कारण है कि हिन्दी के साहित्यिक रूपायन में अन्य भाषा-भाषियों का अप्रतिम योगदान रहा है। संजय गर्ग की उपरोक्त पुस्तक इसका द्योतक और सजीव उदाहरण है।

ग़ज़ल जिस प्रकार उर्दू-काव्य की एक सर्वोत्तम रचना रही है उसी प्रकार हिन्दी काव्य में भी यह एक चर्चित विधा बन गयी है। उर्दू-फ़ारसी काव्य में ग़ज़ल के प्रथम छन्द या शेर को

मतला तथा अन्तिम छन्द को मक़ता कहा जाता है। संजय गर्ग के विचार में मक़ते का छन्द या शेर ग़ज़ल में कवि का सबसे प्रिय शेर होता है क्योंकि उसमें कवि अपना तख़ल्लूस या उपनाम भी देता है। यही कारण है कि मक़ते का शेर विचार, भावना और तथ्य से परिपूर्ण होता है।

प्रस्तुत काव्य-संकलन में श्री गर्ग ने अन्तिम मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र की ग़ज़लों से एक सौ मक़ते का शेर संकलित किया है। ज्ञातव्य है कि बहादुर शाह तो केवल नाम मात्र के ही सम्राट थे क्योंकि तथा-कथित मुग़ल साम्राज्य उस समय अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा था। अपितु बहादुर शाह का स्थान उस समय के उच्च कोटि के उर्दू कवियों में था।

संजय गर्ग की इस पुस्तक की यह विशेषता है कि प्रथम दो उन्होंने प्रत्येक छन्द अथवा शेर को उसके मूल रूप में उर्दू में प्रस्तुत किया है फिर उसका हिन्दी एवं अंग्रेजी में रूपान्तर प्रस्तुत किया है। हिन्दी में रूपान्तर करने के साथ-साथ उर्दू के कठिन शब्दों का अर्थ पादटीका में दे दिया है ताकि हिन्दी भाषियों को उर्दू शब्दों के अर्थ की अनभिज्ञता से ग़ज़ल के मूल अर्थ व रस तक पहुँचने में कठिनाई न हो।

बहादुर शाह ज़फ़र के संकलित मक़ते के सौ छन्दों को देखने से प्रतीत होता है कि वह एक सूफ़ी विचार के कवि थे। उनकी ग़ज़लों से मुग़ल साम्राज्य के पतन, दुर्दशा एवं बेबसी बिल्कुल साफ़ प्रतिबिंबित होती है।

प्रकाशन साफ सुथरा और त्रुटियों से प्राय: मुक्त है। इस साहित्य-सेवा के लिए श्री गर्ग बधाई के पात्र हैं। आशा है कि उनकी अगली पुस्तकें 'ग़ालिब ऑन ग़ालिब' तथा 'अकबर ऑन अकबर' शीघ्र ही प्रकाशित होकर सामने आयेंगी।

– सैयद एजाज़ हुसैन

अपनी बात

यह हमारे लिए हर्ष का विषय है कि विश्वभारती पत्रिका पुनः नियमित रूप से प्रकाशित होने लगी है। मार्च २००८ तक पत्रिका को अद्यतन कर लिया जायेगा। पत्रिका का परवर्ती अंक हजारीप्रसाद द्विवेदी जन्मशती विशेषांक होगा। आचार्य द्विवेदी विश्वभारती पत्रिका के संस्थापक सम्पादक थे। पत्रिका के प्रकाशन की योजना गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से बनी थी, किन्तु गुरुदेव पत्रिका को प्रकाशित रूप में न देख सके। १९४१ में उनका देहान्त हो गया। पत्रिका का पहला अंक १९४२ में प्रकाशित हुआ था। आचार्य द्विवेदी के सम्पादकत्व में विश्वभारती पत्रिका ने शोध और संस्कृति के जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। उनके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय चले जाने के बाद रामसिंह तोमर के सम्पादकत्व में विश्वभारती पत्रिका का पुनः प्रकाशन शुरू हुआ था। पत्रिका के प्रारम्भिक दौर से ही इसमें रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के अनुवाद तथा रवीन्द्रनाथ के साहित्य और चिन्तन से सम्बन्धित आलेख प्रकाशित किये जाते थे। उस परम्परा को अब भी जारी रखा गया है। रवीन्द्रनाथ हिन्दी भाषा के माध्यम से भारतीय साहित्य और संस्कृति-चिन्तन का आदान-प्रदान चाहते थे। उस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पत्रिका के आगामी अंकों से हर अंक में हिन्दीतर भाषा के चिन्तकों और लेखकों के दो-एक आलेख प्रकाशित किये जायेंगे। इस अंक में विश्वभारती, बांग्ला विभाग के पूर्व रवीन्द्र प्रोफेसर भवतोष दत्त का आलेख प्रकाशित किया जा रहा है।

आचार्य द्विवेदी की जन्मशती के उपलक्ष्य पर उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित विश्वभारती पत्रिका के अंकों का एक संकलन प्रकाशित करने की योजना है। रवीन्द्रनाथ के काव्यग्रन्थ 'नैवेद्य' का एक संस्करण – मूल बांग्ला, अंग्रेजी-हिन्दी अनुवाद सहित – भी विश्वभारती ग्रन्थन विभाग द्वारा प्रकाशित करने की योजना है। इस अंक में 'नैवेद्य' की प्रथम तीन कविताओं को हिन्दी छाया सहित प्रकाशित किया जा रहा है।

पत्रिका के कुछ पुराने ग्राहकों के वार्षिक सदस्यता शुल्क प्राप्त नहीं हुए हैं, फिर भी पत्रिका उन्हें भेजी जा रही है। उनसे निवेदन है कि सदस्यता शुल्क शीघ्र भेज कर सहयोग करें।

– कुमकुम भट्टाचार्य